अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
जून २०२१

भागवत कृपा

अग्निशिखा जून २०२१ वर्ष ५१, अंक ११, पूर्णांक ६१०

विषय-सूची

'भागवत कृपा'

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय		३
कृपा		४
उसी की कृपा के श्वास पर हमारे जीवन आधारित हैं		५
भागवत कृपा और हमारा सहयोग		७
कृपा का एक और पहलू		१०
कृपा की टेर लगाना		१३
नम्रता तथा कृतज्ञता		१६
कठिनाइयाँ उ कृपा उ प्रगति		१८
कृपा के द्वारा रोग का उपचार		२०
विपत्ति, युद्ध और भविष्य		२२
'कर्म' और 'कृपा'		२३
वैश्व न्याय तथा अवतार का कार्य		२६
कृपा की धारणा		३०
अगर 'कृपा' सब कुछ कर सकती है, तो तपस्या क्यों?		३४
सूर्यालोकित पथ पर व्यक्ति का प्रवेश		३६
प्रभु का आश्वासन		३८
परम प्रज्ञा		३९
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		४०
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार	'श्रीमातृवाणी' से	४३
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : ध्यान तथा भोजन के विषय में	नवजातजी	४८
वे मुझे पूरा संसार दे गये थे	वन्दना	५१
भगवती माँ की कृपा		(आवरण ३)

सन्देश

अगर व्यक्ति के अन्दर भागवत कृपा पर श्रद्धा है कि भागवत कृपा उस पर नज़र रखे हुए है और चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये, भागवत कृपा तो है ही, उसकी निगरानी कर रही है तो वह इस श्रद्धा को हमेशा और सारे जीवन रख सकता है, और यह हो तो वह ख़तरों में से गुज़र सकता है, सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना कर सकता है और कोई उसका बाल भी बाँका न कर सकेगा, क्योंकि उसके अन्दर श्रद्धा है और भागवत कृपा उसके साथ है। यह अनन्तगुनी शक्तिशाली, अधिक सचेतन, और अधिक स्थायी शक्ति है जो तुम्हारे शारीरिक गठन की अवस्था पर निर्भर नहीं करती, जो भागवत कृपा के सिवा किसी अन्य पर निर्भर नहीं करती, और इसलिए सत्य का सहारा लिये रहती है और कोई भी चीज़ उसे हिला नहीं सकती। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ५, पृ. ३२७

सम्पादकीय : सृष्टि एक रहस्य है। लेकिन इससे अधिक महान् रहस्य यह है कि न केवल भगवान् ने इसकी रचना की बल्कि इसे निरन्तर इस भाँति चलाये जा रहे हैं कि मनुष्य कई बार सोचता है, क्या है यह सृष्टि, क्या इसका कोई तुक है, इसके पीछे कोई अर्थ है? क्योंकि उसे तो लगता है कि यहाँ सब कुछ भाग्य-भरोसे चलता रहता है... और अगर हम कुछ गहराई में झाँकें तो शायद देख पायें कि न केवल यह सृष्टि भौतिक रूप से शून्य में अधिकाधिक पसर रही है बल्कि इसके पीछे एक गूढ़ार्थ है; यह निरन्तर विकसित हो रही है—हम देख पायें या न देख पायें, समझ पायें या न समझ पायें...। क्योंकि इस 'सृष्टि' के ऊपर 'भागवत कृपा' तथा 'भागवत प्रेम' का चँदोबा तना हुआ है। रात-दिन, दिन-रात यही भागवत परम 'कृपा' हमारे साथ साये की तरह चलती रहे, हमारा पथ-प्रदर्शन करती रहे, इसी भाव को समर्पित है हमारा यह अंक।

कृपा

'प्रेम' के 'मूल' में कुछ ऐसी चीज़ है जो अनवरत रूप से 'भागवत कृपा' के हस्तक्षेप, शक्ति, मधुरता, प्रशमन के स्पन्दन के जैसी चीज़ बन कर सर्वत्र फैली हुई है।...

*

भागवत 'कृपा', भागवत 'कृपा' एक ऐसी चीज़ है जो अपनी स्पष्ट दृष्टिवाली सहृदयता के साथ सारी समझ के परे है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ४४-४५, २१८

'भागवत कृपा' ऐसी चीज़ है जो तुम्हें उस लक्ष्य की ओर धकेलती है जिसे तुम्हें पाना है। उसका निर्णय अपने मन से न करो, तुम कहीं न पहुँच पाओगे, क्योंकि यह एक दुर्ज्ञेय चीज़ है जो मानवीय शब्दों या भावनाओं द्वारा नहीं समझायी जा सकती।

*

तुम भगवान् के जितना अधिक निकट आओगे उतना ही अधिक तुम 'उनकी' असीम 'कृपा' के अत्यधिक स्पष्ट प्रमाणों की फुहार में निवास करोगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १०६, ९७

'कृपा' कोई मनगढ़न्त कहानी नहीं है, यह आध्यात्मिक अनुभूति का एक तथ्य है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ६११

'कृपा' एकदम से सहज-स्वाभाविक चीज़ है जो 'भागवत चेतना' से उमड़ कर सत्ता में अबाध गति से बहती है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ७९० **श्रीअरविन्द**

... 'कृपा'... है परम पुरुष की अभिव्यक्ति।

श्रीमाँ

उसी की कृपा के श्वास पर हमारे जीवन आधारित हैं[१]

जब तुम एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों के बीच होते हो और कुछ घटनाएँ घटती हैं तो बहुधा ये घटनाएँ तुम्हारी इच्छा का या जो कुछ तुम्हें सर्वोत्तम प्रतीत होता है उसका प्रतिरोध करती हैं, और बहुधा तुम इसके लिए दुःखी होते हो और छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं के लिए कहते हो : "आह! यदि यह दूसरी तरह हुआ होता, ऐसा या वैसा हुआ होता तो कितना अच्छा होता"...। उसके बाद वर्ष-पर-वर्ष निकल जाते हैं, घटनाओं-पर-घटनाएँ होती हैं; तुम प्रगति करते हो, अधिक सचेतन बन जाते हो, पहले से ज़्यादा अच्छा समझने लगते हो, और जब तुम पीछे की ओर निहारते हो, तुम देखते हो—पहले तो अचम्भे के साथ, फिर बाद में एक मुस्कान के साथ —कि जो परिस्थितियाँ तुम्हें बिलकुल अनर्थकारी और प्रतिकूल प्रतीत हुई थीं वे ही ठीक-ठीक वे सर्वोत्तम चीज़ें थीं जो, उस समय तुम्हें जैसी उन्नति करनी थी उसे कराने के लिए, तुम्हारे साथ हो सकती थीं। और यदि तुम ज़रा भी समझदार होओ तो तुम अपने-आपसे कहते हो : "सचमुच भगवान् की 'कृपा' अनन्त है।"

अतएव, जब इस प्रकार की चीज़ अनेक बार तुम्हारे साथ हो चुकती है, तो तुम यह समझना आरम्भ कर देते हो कि मनुष्य की अन्धता और भ्रामक बाह्य रूपों के बावजूद भगवत्कृपा ही सर्वत्र कार्य कर रही है, जिससे कि प्रत्येक मुहूर्त, उन स्थितियों में जिनमें कि यह संसार उस मुहूर्त में होता है, सर्वोत्तम सम्भवनीय वस्तु ही होती है। चूँकि हमारी दृष्टि सीमित है अथवा इसलिए भी कि हम अपनी ही निजी अभिरुचियों के द्वारा अन्धे बने होते हैं, हम यह नहीं देख पाते कि चीज़ें इस प्रकार हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३१०

मानवीय बुद्धि ऐसी है कि जब तक विपरीतता न हो तब तक वह समझती ही नहीं। जानते हो, मुझे लोगों से सैकड़ों चिट्ठियाँ मिली हैं जिनमें उन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है क्योंकि उन्हें बचा लिया गया। लेकिन कोई विरला ही, बहुत ही विरला मुझे इसलिए चिट्ठी लिखता है कि उसे

१. श्रीअरविन्द, 'सावित्री', पृ. ३०५

कुछ नहीं हुआ, समझे!... लोगों को कृपा की क्रिया का भान तक नहीं होता जब तक कोई ख़तरा न आ जाये, यानी, जब तक किसी दुर्घटना का आरम्भ न हो जाये या जब दुर्घटना हो चुकी हो और वे उसमें से बच निकले हों तब वे सचेतन हो उठते हैं, लेकिन उन्हें इस बात का भान नहीं होता, जैसे, उदाहरण के लिए, कोई यात्रा या कोई और चीज़ दुर्घटना के बिना हो जाती है तो यह कहीं अधिक महान् 'कृपा' है। यानी, सामञ्जस्य एक ऐसे ढंग से स्थापित हो जाता है कि कुछ भी नहीं हो सकता; लेकिन उनको यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। जब लोग बीमार पड़ते हैं और जल्दी ठीक हो जाते हैं तो वे कृतज्ञता से भरपूर होते हैं। लेकिन जब वे स्वस्थ होते हैं तो कृतज्ञ होने का कभी विचार भी नहीं करते; फिर भी यह ज़्यादा बड़ा चमत्कार है!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४४४-४५

'जड़-द्रव्य' में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि भौतिक चेतना (यानी, 'जड़-द्रव्य' में स्थित मन) कठिनाइयों के—कठिनाइयों, रुकावटों, पीड़ाओं, संघर्षों के—दबाव से बनी है। कहा जा सकता है कि इन्हीं चीज़ों ने उसे "रूप दिया है" और उस पर लगभग निराशा की, पराजयवाद की छाप लगा दी है और निश्चय ही यह सबसे बड़ी रुकावट है।

... सबसे अधिक भौतिक चेतना, सबसे अधिक भौतिक मन हमेशा मार खाकर काम करने का, प्रयास करने का, आगे बढ़ने का अभ्यस्त है; अन्यथा यह तमस् में बना रहता है। और फिर यह जहाँ तक कल्पना कर सकता है, यह हमेशा कठिनाइयों की ही कल्पना करता है—हमेशा रुकावट या हमेशा विरोध की कल्पना—और इससे गति भयंकर रूप से धीमी पड़ जाती है। उसे यह विश्वास दिलाने के लिए कि उसकी सब कठिनाइयों के पीछे 'कृपा' है, सभी असफलताओं के पीछे 'विजय' है, उसके सभी दुःखों, कष्टों और विरोधों के पीछे 'आनन्द' है, उसे बहुत ठोस, गोचर और **बार-बार दोहरायी जाने वाली** अनुभूतियों की ज़रूरत होती है।... हमेशा तुम्हें निराशावाद को रोकने की, सन्देह को दूर हटाने की या पराजयवादी की कल्पना को बदलने की ज़रूरत होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २

भागवत कृपा और हमारा सहयोग

मैंने कहीं पर कहा है, या शायद लिखा है, कि भागवत 'कृपा' पर तुम्हारी श्रद्धा और तुम्हारा विश्वास चाहे जितना भी अधिक क्यों न हो, उसे सभी परिस्थितियों में, प्रत्येक क्षण, जीवन की प्रत्येक स्थिति में कार्य करते हुए देखने की तुम्हारी क्षमता चाहे जितनी भी महान् क्यों न हो, तुम यह समझने में कभी सफल नहीं होगे कि इसकी 'क्रिया' कितनी अद्‌भुत एवं विशाल-विराट् होती है और कितनी यथार्थ और सुनिश्चित रूप में यह 'क्रिया' सम्पन्न होती है; तुम यह पकड़ने में कभी सक्षम नहीं होगे कि किस हद तक 'कृपा' प्रत्येक चीज़ करती है, प्रत्येक चीज़ के पीछे रहती है, प्रत्येक चीज़ सुसंगठित करती और प्रत्येक चीज़ का परिचालन करती है ताकि दिव्य संसिद्धि की ओर आगे बढ़ने की गति संसार की परिस्थितियों को देखते हुए यथासम्भव तेज़, पूर्ण, सर्वांगीण और सुसमञ्जस हो सके।

ज्यों ही तुम 'इसके' सम्पर्क में आ जाते हो, काल के अन्दर कोई ऐसा क्षण, देश के अन्दर कोई ऐसा स्थल नहीं रह जाता जो भागवत 'कृपा' के इस सतत कार्य को, 'कृपा' के इस अविच्छिन्न हस्तक्षेप को **जाज्वल्यमान** रूप में तुम्हें नहीं दिखलाता।

और एक बार जब तुम इसे देख लेते हो, तुम अनुभव करते हो कि तुम कभी इसके लायक़ नहीं हो, तुम्हें कभी इसे भूलना नहीं चाहिये, कभी डरना नहीं चाहिये, कभी कोई वेदना, पश्चात्ताप, विघ्न-बाधा... यहाँ तक कि कोई दुःख-कष्ट नहीं अनुभव करना चाहिये। यदि कोई इस 'कृपा' के साथ युक्त हो, यदि कोई 'इसे' सर्वत्र देखे तो वह परमोल्लास, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्त आनन्द का जीवन यापन करना आरम्भ कर देगा।

और यही होगा दिव्य कर्म में सर्वोत्तम सम्भव सहयोग।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३०३

... जब मनुष्य इसे देखना आरम्भ करता है तो वह ऐसे आश्चर्य में पड़ जाता है जिसका वर्णन कोई चीज़ नहीं कर सकती। क्योंकि बाह्य रूपों के पीछे मनुष्य इस 'कृपा' को देखता है—जो अनन्त, आश्चर्यमयी, सर्वशक्तिशाली है—जो सब कुछ जानती है, सब कुछ व्यवस्थित करती है,

सब कुछ संयोजित करती है, और हमें—हम उसे चाहें या नहीं, हम उसे जानें या नहीं—परात्पर लक्ष्य की ओर, अर्थात्, भगवान् के साथ एकत्व-प्राप्ति की ओर, परम देव की अभिज्ञता और उनके साथ एकत्व की ओर ले जाती है।

तब मनुष्य भगवत्कृपा के 'कार्य' और उसकी 'उपस्थिति' के अन्दर आनन्द से, आश्चर्य से भरपूर जीवन यापन करता है और एक अद्‌भुत शक्ति-सामर्थ्य का अनुभव करता है तथा उसके साथ-ही-साथ उसमें उसके प्रति एक ऐसा भरोसा होता है जो इतना शान्त-स्थिर, इतना पूर्ण होता है कि कोई चीज़ अब उसे हिला नहीं सकती।

और जब मनुष्य पूर्ण ग्रहणशीलता तथा पूर्ण अनुरक्ति की इस स्थिति में होता है, वह उस हद तक भागवत कार्य के लिए संसार के प्रतिरोध को कम कर देता है; फलतः, यही है वह सर्वोपरि सहयोग जिसे मनुष्य भगवान् के कार्य में दे सकता है। मनुष्य तब समझता है कि भगवान् क्या चाहते हैं, और अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ 'उनकी इच्छा' का अनुसरण करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३१०-११

सारे अभिव्यक्त जगत् में दुःख, अन्धकार और मूढ़ता में पड़े विश्व को उसमें से बाहर निकालने के लिए एक अनन्त 'कृपा' हमेशा काम करती रहती है। अनादि काल से यह 'कृपा' अपने निरन्तर प्रयास द्वारा कार्य करती आ रही है और इस विश्व को किसी महत्तर, सत्यतर और सुन्दरतर वस्तु की आवश्यकता के प्रति जगाने में कितने युग लग गये।

अपनी ही सत्ता में मिलने वाले प्रतिरोध से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि कितने दृढ़ प्रतिरोध के साथ यह विश्व 'कृपा' के कार्य का विरोध करता है।

मनुष्य निर्णायक प्रगति के लिए तभी तैयार होता है जब वह समझ लेता है कि **सभी बाह्य** चीज़ें, मानसिक धारणाएँ और भौतिक प्रयास यदि ऊपर से आयी 'ज्योति' और 'शक्ति' को, अपने-आपको अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हुए 'सत्य' को पूरी तरह समर्पित नहीं हैं तो बेकार हैं, व्यर्थ हैं। अतः, एकमात्र सच्चा प्रभावकारी मनोभाव है 'उसको' सम्पूर्ण, सर्वांग, उत्साह और भक्तिभरा आत्मदान जो हमारे ऊपर अवस्थित है, एकमात्र उसी

में सब कुछ बदल डालने की शक्ति है।

जब कोई अन्तरस्थित 'आत्मा' के प्रति खुल जाता है तो उसे उस उच्चतर जीवन का पहला पूर्वास्वाद मिल जाता है जो सचमुच जीने-योग्य है...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४५६-५७

... यह (कड़े नियम बनाना) 'आत्मा' की सृजनात्मिका 'शक्ति' से तुम्हें अलग कर देता है, यह 'भगवत्कृपा' की सच्ची शक्ति से तुम्हें अलग कर देता है, क्योंकि तुम समझ सकते हो कि यदि तुम अपनी अभीप्सा या अपने मनोभाव के द्वारा एक उच्चतर तत्त्व को, एक नवीन तत्त्व को—जिसे हम अब एक अतिमानसिक तत्त्व कह सकते हैं—वर्तमान सञ्चयों में समाविष्ट करो तो तुम हठात् उसके स्वभाव को बदल सकते हो और ये सभी तथाकथित आवश्यक और अपरिहार्य नियम असंगत चीज़ें बन जाते हैं। कहने का मतलब कि तुम स्वयं, अपनी परिकल्पना के द्वारा, अपने मनोभाव तथा किन्हीं कथित सिद्धान्तों की स्वीकृति के द्वारा, चमत्कार की सम्भावना का द्वार बन्द कर देते हो—वे उस समय चमत्कार नहीं रह जाते जब तुम जानते हो कि वे कैसे घटित होते हैं, पर स्पष्ट ही, बाहरी चेतना के लिए वे अलौकिक प्रतीत होते हैं। और *स्वयं तुम ही* देखने में बिलकुल युक्तिसंगत तर्क के साथ अपने-आपको यह कह कर कि : "हाँ, यदि मैं इसे करूँ तो यह अवश्य होगा, अथवा यदि मैं इसे नहीं करता तो यह दूसरी चीज़ होगी", सचमुच तुम स्वयं ही दरवाज़े को बन्द कर देते हो—यह बात वैसी ही है जैसे तुम स्वयं अपने तथा 'कृपाशक्ति' के अबाध कार्य के बीच एक लोहे की दीवार खड़ी कर दो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३७८-७९

हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण, सभी अवस्थाओं में 'भागवत कृपा' हमें सभी कठिनाइयों को पार कराने में हमारी सहायता के लिए मौजूद है।

*

परम प्रभु की शक्ति अनन्त है—यह तो हमारी श्रद्धा है जो सीमित है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९७

कृपा का एक और पहलू

एक समय था, बहुत पहले की बात नहीं, जब मनुष्य की आध्यात्मिक अभीप्सा दुनिया की सब चीज़ों से निर्लिप्त, जीवन से पलायन या ठीक-ठीक कहें तो युद्ध से कतराने के लिए, संघर्ष से ऊपर उठने के लिए, सारे प्रयास से बचने के लिए एक नीरव, निष्क्रिय शान्ति की ओर मुड़ी हुई थी। यह एक आध्यात्मिक शान्ति थी जिसमें सब तनाव, संघर्ष और प्रयासों की समाप्ति के साथ-साथ सब तरह के दुःख-कष्ट भी समाप्त हो जाते थे और आध्यात्मिक एवं दिव्य जीवन के लिए इसे ही सच्ची और एकमात्र पहचान माना जाता था। इसे ही भागवत कृपा, भागवत सहायता, भागवत हस्तक्षेप समझा जाता था। और अब भी वेदना, तनाव, अति-तनाव के इस युग में भी, सब सहायताओं में यह परम शान्ति ही सबसे अच्छी तरह ग्रहण की जाती है और स्वागत-सत्कार पाती है। यही वह सुख है जिसकी माँग की जाती है, जिसकी आशा की जाती है, अभी तक अनेकों के लिए यही भागवत हस्तक्षेप और भागवत कृपा का सच्चा संकेत है।

वास्तव में, व्यक्ति चाहे कुछ भी पाना चाहे, उसे आरम्भ इस पूर्ण और निर्विकार शान्ति की स्थापना से ही करना चाहिये; यही वह आधार है जिस पर से मनुष्य को काम करना है; लेकिन यदि कोई ऐकान्तिक, निजी, अहंजन्य मुक्ति के ही सपने न लेता हो तो वह इसी से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भागवत कृपा का एक दूसरा पहलू भी है—प्रगति का पहलू, जो सब बाधाओं पर विजयी होगा, वह पहलू जो मानवजाति को नयी उपलब्धि की ओर आगे बढ़ायेगा, एक नयी दुनिया के द्वार खोल देगा...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३२७

लोग यह मानते हैं कि 'भागवत कृपा' का अर्थ है तुम्हारे सारे जीवन के लिए चीज़ों को सरल बना देना। यह सच नहीं है।...

*

जब 'भागवत कृपा' कार्य करती है, तो परिणाम सुखद हो भी सकते हैं और नहीं भी—वह किसी मानवीय मूल्य की परवाह नहीं करती, सामान्य और ऊपरी दृष्टिकोण से वह विध्वंस भी हो सकता है। लेकिन यह व्यक्ति

के लिए हमेशा उत्तम होता है। वह 'भगवान्' के द्वारा भेजा प्रहार होता है ताकि प्रगति दिन दूनी रात चौगुनी हो सके। 'भागवत कृपा' ही तुम्हें सिद्धि के पथ पर तेज़ी से चलाती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १०६

अगर तुम सच्ची अभीप्सा के साथ आध्यात्मिक जीवन में आओ तो कभी-कभी तुम्हारे ऊपर अप्रिय वस्तुओं की हिमवर्षा होने लगती है। तुम अपने सबसे अच्छे मित्रों के साथ लड़ पड़ते हो, तुम्हारा परिवार तुम्हें लात मार कर घर से बाहर कर देता है, जिसे तुमने सोचा कि मिल गया है, उसे गँवा बैठते हो...। मैं एक आदमी से परिचित थी जो बड़ी अभीप्सा के साथ, ज्ञान तथा योग के लिए लम्बे प्रयास के बाद भारत आया था। यह बहुत पहले की बात है। उन दिनों लोग घड़ी की ज़ंजीर और छल्ले पहना करते थे। इस आदमी के पास एक सोने की पेंसिल थी जो उसकी दादी ने दी थी। यह व्यक्ति उसके साथ इतना अधिक आसक्त था मानों वह दुनिया-भर में सबसे ज़्यादा मूल्यवान् वस्तु हो। वह उसकी ज़ंजीर के साथ बँधी थी। जब वह भारत या लंका के एक ऐसे बन्दरगाह पर उतरा जहाँ जहाज़ से बन्दरगाह तक जाने के लिए छोटी नौका में बैठना पड़ता है, जैसे पॉण्डिचेरी, हिन्दुस्तान के कुछ और बन्दरगाह या कोलम्बो, शायद वह कोलम्बो था, तो इस आदमी को जहाज़ की सीढ़ी से नौका में कूदना पड़ा। उसका पाँव चूक गया। उसने अपने-आपको तो सम्भाल लिया, लेकिन उसके अचानक झटके के कारण वह सोने की पेंसिल समुद्र में गिर कर सीधी गहराइयों में चली गयी। पहले तो उसे बहुत दुःख हुआ, लेकिन फिर उसने अपने-आपको समझा लिया: "यह भारत का पहला प्रभाव है: अब मैं आसक्तियों से मुक्त हो गया।" बहुत सच्चे लोगों के लिए चीज़ें ऐसा रूप लेती हैं। कष्टों की हिमवर्षा हमेशा सच्चों के लिए होती है। जो लोग सच्चे और निष्कपट नहीं हैं उनके पास चीज़ें उन्हें धोख़ा देने के लिए बहुत तड़क-भड़क के साथ गहरे रंगों में आती हैं, पर अन्त में उन्हें यह भान करने-योग्य बना देती हैं कि यह उनकी भूल थी!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १७४-७५

सर फ़िलिप सिडनी[१] ने फाँसी के तख़्ते की ओर जाते हुए एक अपराधी को देख कर कहा था, "वह देखो, भगवान् की कृपा से वञ्चित सर फ़िलिप सिडनी जा रहा है।" पर और भी अधिक ज्ञान की बात होती यदि उन्होंने कहा होता, "वह देखो, भगवान् की कृपा से सर फ़िलिप सिडनी जा रहा है।" (श्रीअरविन्द)

मैं इस सूत्र का अर्थ नहीं समझ पाया।

सर फ़िलिप सिडनी एक राजनेता और कवि थे, किन्तु जीवन में सफलता प्राप्त करने पर भी वे स्वभाव से बड़े नम्र थे। कहा जाता है कि एक अपराधी को फाँसी के तख़्ते की ओर ले जाये जाते देख कर उन्होंने यह मशहूर वाक्य कहा था जिसे श्रीअरविन्द ने अपने सूत्र में उद्धृत किया है। इसका उल्था हम यों दे सकते हैं: "भागवत कृपा के **बिना** यह बात मेरे साथ भी हो सकती थी।" श्रीअरविन्द कहते हैं कि यदि सर फ़िलिप सिडनी अधिक बुद्धिमान् होते तो कहते: "भगवान् की कृपा **से** मेरे साथ भी ऐसा हो सकता था।" कारण, भागवत कृपा तो सदा सर्वत्र, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना के पीछे मौजूद है, चाहे उस वस्तु या घटना की ओर हमारी प्रतिक्रिया कैसी भी क्यों न हो, चाहे वह हमें भली प्रतीत हो या बुरी, विपत्तिकारक लगे या सुखदायी।

यदि सर फ़िलिप सिडनी योगी होते तो उन्हें मानव-एकता का अनुभव होता और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में यह जान लिया होता कि वे स्वयं या उन्हीं की सत्ता का एक भाग फाँसी के तख़्ते की ओर ले जाया जा रहा है। साथ ही, वे यह भी जान लेते कि जो कुछ भी होता है वह भगवान् की कृपा से ही होता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ५६-५७

भगवान् की सहायता हो तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

श्रीमाँ

[१] इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध कवि और असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति।

कृपा की टेर लगाना

क्या आवाहन करने पर भगवान् की कृपा हस्तक्षेप करती है?

आवाहन पर? मेरे ख़याल से हाँ। लेकिन, केवल, एकमात्र आवाहन करने पर ही नहीं। यदि तुम्हारे अन्दर भागवत 'कृपा' के लिए श्रद्धा और अभीप्सा है तो निश्चय ही, हाँ (वह तब तो अवश्य हस्तक्षेप करती है)। अगर तुम ऐसे करो जैसे कोई छोटा बच्चा करता है जब वह माँ के पास दौड़ कर जाता है और कहता है : "माँ, मुझे यह दे दो," अगर तुम उस सरलता से पुकारो, अगर तुम 'कृपा' की ओर मुड़ कर कहो : "मुझे यह दे दो," तो मेरा ख़याल है वह सुनती है। लेकिन अगर तुम ऐसी चीज़ माँगो जो तुम्हारे लिए अच्छी नहीं है, तब वह नहीं सुनती। अगर तुम कोई ऐसी चीज़ माँगो जो नुक़सान करती है, या हितकर नहीं है तो वह नहीं सुनती।

इस प्रभाव का कारण क्या है? आवाहन का?

शायद आवाहन करना व्यक्ति की नियति में था। यानी : मुरगी से अण्डा आया या अण्डे से मुरगी? मुझे मालूम नहीं कि 'कृपा' ही तुमसे 'कृपा' का आवाहन करवाती है या 'कृपा' का आवाहन किया जाता है इसलिए 'कृपा' आती है। कहना कठिन है। तत्त्वतः, यह बहुत सम्भव है कि जिस चीज़ की सबसे अधिक कमी है वह है श्रद्धा। हमेशा विचार में कहीं एक छोटा-सा कोना बना रहता है जो सन्देह करता है और विवाद करता है। तो वही सारी चीज़ को बिगाड़ देता है। केवल तभी जब तुम बहुत ही नाज़ुक स्थिति में हो, जब मन यह अनुभव करे कि वह कुछ नहीं कर सकता, बिलकुल कुछ नहीं, जब वह बिलकुल मूढ़ और अक्षम बन कर खड़ा रहता है तब, उस क्षण, यदि तुम उच्चतर सहायता के लिए अभीप्सा करो, अगर अभीप्सा में उस तरह की तीव्रता हो जो निराशा से आती है तो उसका असर होता है। लेकिन अगर तुम्हारा विचार बहस करता चले, अगर वह कहे : "हाँ, हाँ, मैंने अभीप्सा की है, प्रार्थना की है, लेकिन भगवान् जाने यह मुहूर्त है या नहीं, वह आयेगी या नहीं, यह सम्भव भी है या नहीं," तो बस ख़तम, उससे काम नहीं चलता। यह सबसे अधिक सामान्य चीज़ों में से है।

'श्रीमातृवाणी',खण्ड ५, पृ. ४०३-०४

... यदि किसी में... भागवत 'कृपा' पर भरोसा हो, यदि उसमें यह श्रद्धा हो कि इस जगत् में भागवत 'कृपा' जैसी कोई वस्तु है, और यह कोई वस्तु किसी प्रार्थना, किसी अभीप्सा, किसी पुकार का उत्तर दे सकती है, तो अपनी मानसिक रचना बनाने के बाद, यदि कोई इसे 'कृपा' को अर्पित कर दे और उस शक्ति में अपना विश्वास रखे, उससे हस्तक्षेप करने की याचना करे और यह विश्वास बनाये रखे कि वह हस्तक्षेप करेगी, तो निस्सन्देह उसे सफलता पाने का अवसर मिलेगा।

कोशिश करो, और तुम निश्चित ही इसका परिणाम देखोगे।

परन्तु, माँ, जब मनुष्य 'कृपा' के हस्तक्षेप करने के लिए सच्चाई के साथ प्रार्थना करता है तो क्या वह किसी विशेष परिणाम की आशा नहीं करता?

क्षमा करना, यह निर्भर करता है प्रार्थना की भावना पर। यदि कोई 'कृपा' या भगवान् को मात्र पुकारता है और अपने-आपको उसके हाथों में सौंप देता है तो वह किसी विशिष्ट परिणाम की आशा नहीं करता। किसी विशिष्ट परिणाम की आशा करने के लिए मनुष्य को अपनी प्रार्थना को शब्दबद्ध करना होगा, कोई चीज़ माँगनी होगी। यदि तुम्हारे अन्दर भागवत 'कृपा' के लिए केवल एक महान् अभीप्सा है और तुम उसका आवाहन करते हो, उससे कोई भी निश्चित वस्तु माँगे बिना, उससे अनुनय-विनय करते हो तो उस समय तुम नहीं, स्वयं 'कृपा' ही यह चुनाव करेगी कि वह तुम्हारे लिए क्या करे।

यह तो और भी अच्छा है, है न?

आह! यह तो बिलकुल दूसरा ही प्रश्न है।

स्पष्ट ही, वह शायद अपने ढंग की उच्चतर वस्तु होगी। परन्तु, फिर भी, यदि हम कोई निश्चित वस्तु चाहते हैं तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे व्यक्त किया जाये। यदि 'कृपा' को पुकारने का कोई विशेष कारण हो तो यह अधिक अच्छा है कि उसे ठीक-ठीक और स्पष्ट रूप में व्यक्त किया जाये। निस्सन्देह, यदि कोई पूर्ण समर्पण की स्थिति में हो और अपने-आपको सम्पूर्ण रूप में दे दे, यदि कोई अपने-आपको सिर्फ़ 'कृपा'

के हाथों अर्पित कर दे और वह जो चाहे वही उसे करने दे तो यह बहुत अच्छा है। परन्तु उसके बाद उसे यह नहीं पूछना चाहिये कि वह क्या करती है! मनुष्य को उससे यह नहीं कहना चाहिये : "ओह! मैंने यह चीज़ पाने के विचार से वैसा किया था," क्योंकि यदि कोई वास्तव में किसी चीज़ को प्राप्त करने की भावना रखता हो तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे पूर्ण सच्चाई के साथ, सरल ढंग से, ठीक जैसी वह चीज़ दिखती है, व्यक्त किया जाये। उसके बाद, यह चुनाव करना 'कृपा' का कार्य है कि वह उसे करेगी या नहीं करेगी; पर हर हालत में, मनुष्य जो कुछ चाहता है उसको उसे स्पष्ट रूप में कहना ही होगा। और उसमें कोई हर्ज़ नहीं है।

यह बात उस समय बुरी हो जाती है जब प्रार्थना स्वीकृत नहीं होती और मनुष्य विद्रोह कर बैठता है। तब स्वभावतः वह बात बुरी हो जाती है। वास्तव में उस समय मनुष्य को यह समझना चाहिये कि जो कामना उसमें है वह, अथवा उसकी अभीप्सा बहुत प्रदीप्त नहीं रही होगी और सम्भवतः उसने कोई ऐसी चीज़ माँगी होगी जो उसके लिए एकदम अच्छी नहीं थी। तब, उस समय उसे थोड़ा समझदार होना चाहिये और बस यह कहना चाहिये : "ठीक है, तेरी इच्छा पूर्ण हो।" परन्तु जब तक मनुष्य में कोई आन्तरिक चाह और आन्तरिक अभिरुचि हो, तो उसे मूर्त रूप देने में कोई हर्ज़ नहीं है। यह बहुत स्वाभाविक क्रिया है।

उदाहरणार्थ, यदि किसी ने मूर्खता कर दी है अथवा कोई भूल कर दी है और वह सचमुच, सच्चाई के साथ यह चाहता है कि उसे दोबारा कभी न करे तो हाँ, मैं उसके लिए याचना करने में कोई हानि नहीं देखती। और वास्तव में, यदि कोई सच्चाई के साथ, सच्ची आन्तरिक सच्चाई के साथ, उसके लिए प्रार्थना करे तो इस बात की बहुत सम्भावना है कि वह मंज़ूर हो जाये।

तुम्हें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि भगवान् तुम्हारा विरोध करना चाहते हैं। वे इसे बिलकुल नहीं चाहते! तुम्हारे लिए सचमुच क्या अच्छा है, यह वे तुमसे अधिक अच्छे रूप में देख सकते हैं; परन्तु यथार्थ में जब यह एकदम अनिवार्य हो जाता है केवल तभी वे तुम्हारी अभीप्सा का विरोध करते हैं। अन्यथा वे सर्वदा माँगी हुई वस्तु देने के लिए तैयार रहते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३०७-०९

नम्रता तथा कृतज्ञता

'कृपा' को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकारने का क्या तरीक़ा है?

आहा! सबसे पहले तो तुम्हें उसकी आवश्यकता अनुभव करनी होगी।

यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। तुम्हारे अन्दर एक प्रकार की आन्तरिक नम्रता होनी चाहिये जो इस बात का भान कराती है कि तुम भागवत 'कृपा' के बिना कितने असहाय हो, कि सचमुच, उसके बिना तुम अपूर्ण और शक्तिहीन रहते हो। आरम्भ में, यही सबसे पहली चीज़ है।...

यह पहली शर्त है। और फिर, अगर तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि केवल भागवत 'कृपा' ही यह कर सकती है, कि तुम अपने-आपको जिस परिस्थिति में पाते हो उसमें से केवल 'कृपा' ही तुम्हें उबार सकती है, वही तुम्हें उसमें से निकलने के लिए उपाय बता सकती है और बल दे सकती है, तो स्वभावतः, तुम्हारे अन्दर एक तीव्र अभीप्सा जागेगी—एक ऐसी चेतना जो अपने-आपको उद्घाटन में बदल लेगी। अगर तुम आवाहन करो, अभीप्सा करो और उत्तर पाने की आशा करो, तो तुम बिलकुल स्वाभाविक रूप से अपने-आपको भागवत 'कृपा' की ओर खोलोगे।

और बाद में—तुम्हें इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिये *(माताजी ओठों पर अंगुली रखती हैं)*—भागवत 'कृपा' तुम्हें उत्तर देगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें कष्ट में से उबार लेगी, भागवत 'कृपा' तुम्हें समस्या का समाधान बतलायेगी या तुम्हें अपनी कठिनाई में से निकल आने में सहायता देगी। लेकिन जब तुम कष्ट से छुटकारा पा जाओ और कठिनाई में से निकल आओ, तो यह न भूलो कि भागवत 'कृपा' ने ही तुम्हें उबारा है, यह न सोचो कि यह तुमने स्वयं किया है। क्योंकि वास्तव में, यह महत्त्वपूर्ण बात है। कठिनाई ख़तम होते ही अधिकतर लोग कहते हैं: "आख़िर, मैंने अपने-आपको बड़ी अच्छी तरह कठिनाई में से निकाल लिया।"

तो यह बात है। इस तरह तुम दरवाज़ा बन्द कर देते हो, उस पर ताला जड़ कर चटकनी चढ़ा देते हो, और फिर तुम और कुछ नहीं पा सकते। इस आन्तरिक मूढ़ता को दूर करने, और तुम्हें यह अनुभव कराने के लिए कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें फिर से किसी तीव्र व्यथा की, किसी

भयानक कठिनाई की ज़रूरत होती है। क्योंकि तभी तुम ज़रा-सा खुलते और लचीले बनते हो जब तुम्हें यह पता लग जाये कि तुम बलहीन हो। लेकिन जब तक तुम यह समझते हो कि जो कुछ तुम करते हो वह तुम्हारे अपने कौशल और अपनी क्षमता पर निर्भर है, तो सचमुच, तुम केवल एक दरवाज़ा नहीं, एक के बाद एक बहुत-से दरवाज़े बन्द कर देते हो, समझे, और उनमें चटकनी लगा देते हो। तुम अपने-आपको एक क़िले में बन्द कर लेते हो, और वहाँ कोई चीज़ प्रवेश नहीं कर सकती। यह सबसे बड़ी त्रुटि है : आदमी बहुत जल्दी भूल जाता है। बिलकुल स्वाभाविक रूप में, वह अपनी निजी क्षमता से सन्तुष्ट रहता है।...

ओह, सच्चा और निष्कपट होना बहुत कठिन है...। इसीलिए प्रहार बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी भयंकर हो जाते हैं, क्योंकि यही एकमात्र चीज़ है जो तुम्हारी मूढ़ता को तोड़ती है। यही विपदाओं का औचित्य है। जब तुम तीव्र पीड़ाजनक स्थिति में होते हो तभी, जब तुम ऐसी चीज़ के सामने हो जिसका तुम पर गहरा असर पड़ता है, तभी तुम्हारी मूढ़ता ज़रा-सी पिघलती है। लेकिन जैसा कि तुमने कहा, जब कोई चीज़ पिघलती है तो उस समय भी कोई छोटी-सी चीज़ तुम्हारे अन्दर जैसी-की-तैसी बनी रह जाती है। इसलिए व्यथा इतने लम्बे समय तक चलती है...

गहराइयों तक यह जानने के लिए कि हम **कुछ भी नहीं** हैं, कि हम **कुछ भी नहीं** कर सकते, कि हमारा **अस्तित्व ही नहीं** है, कि **हम हैं ही नहीं**, कि भागवत 'चेतना' और 'कृपा' के बिना कोई सत्ता ही नहीं है, जीवन में कितने प्रहारों की ज़रूरत होती है। जिस क्षण तुम यह जान लेते हो, यह ख़तम हो जाती है; सारी कठिनाइयाँ चली जाती हैं। तभी, जब तुम इसे पूर्ण रूप से जान लो और कोई भी चीज़ इसका प्रतिरोध न करे... लेकिन उस मुहूर्त तक...। और इसमें बहुत समय लगता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३६४-६७

कोई मनुष्य जितना ग्रहण कर सकता है, उससे कहीं अधिक विपुल होती है भगवान् की सहायता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९४

कठिनाइयाँ = कृपा = प्रगति

जब कठिनाइयाँ तुम्हें घेर लें, तो यह जानो कि 'भागवत कृपा' तुम्हारे साथ है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १०५

जीवन की सभी परिस्थितियों की व्यवस्था हमें यह सिखाने के लिए की गयी है कि मन से परे, भागवत कृपा में विश्वास ही हमें सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने, सभी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने तथा दिव्य चेतना के साथ सम्पर्क स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है, उस दिव्य चेतना के साथ जो हमें केवल शान्ति और आनन्द ही नहीं बल्कि शारीरिक सन्तुलन एवं अच्छा स्वास्थ्य भी प्रदान करती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३७४

... दुर्बलता की दलील देने का कोई अर्थ नहीं है। उन लोगों की सहायता के लिए भागवत 'कृपा' **हमेशा** उपस्थित रहती है जिन्होंने अपने-आपको ठीक करने का निश्चय कर लिया है और वे यह नहीं कह सकते कि, "अपने-आपको ठीक करने के लिए मैं बहुत दुर्बल हूँ।" वे यह कह सकते हैं कि उन्होंने स्वयं को सुधारने का अभी तक संकल्प नहीं लिया है, कि उनकी सत्ता के अन्दर कहीं पर कोई ऐसी चीज़ है जिसने यह करने का **निश्चय नहीं** किया है, और बात यहीं गम्भीर हो जाती है।

दुर्बलता की दलील देना एक बहाना है। जो व्यक्ति संकल्प ले लेता है उसे परम शक्ति देने के लिए 'कृपा' मौजूद रहती है।

इसका अर्थ है कपट, इसका अर्थ दुर्बलता नहीं है। और कपट हमेशा विरोधी के प्रवेश के लिए खुला दरवाज़ा होता है। इसका अर्थ है कि अपने विकार के प्रति व्यक्ति के अन्दर एक गुप्त सहानुभूति होती है। और यही है गम्भीर चीज़।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३३५-३६

सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि तुम क्या चाहते हो। अगर तुम योग चाहते हो, तो **जो कुछ** होता है उसे 'भागवत कृपा' के रूप में लो जो तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य की ओर ले जा रही है और परिस्थितियाँ जो पाठ सिखाती हैं उसे समझने की कोशिश करो।

*

जिन्होंने अपने-आपको भगवान् को दे दिया है उनके सामने आने वाली हर कठिनाई नयी प्रगति का आश्वासन होती है और इसलिए उसे 'भागवत कृपा' के उपहार के रूप में लेना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १०५

जिसमें भगवान् के लिए अभीप्सा है, उसके सामने जो कठिनाई हमेशा खड़ी रहती है, उसके लिए वह कठिनाई ही वह द्वार है जिससे वह निजी तरीक़े से भगवान् को पायेगा : यह भगवान् को पाने के लिए उसका अपना मार्ग होगा।

और यह भी तथ्य है कि अगर किसी के सम्मुख हज़ारों कठिनाइयाँ आती हैं तो इसका अर्थ है कि उसे बहुत सारी उपलब्धियाँ भी प्राप्त होंगी —बशर्ते कि उसके अन्दर धैर्य और सहनशक्ति हों और वह अपने अन्दर इन दोषों के विरुद्ध अभीप्सा की अग्नि जगाये रखे।

और याद रखो : सामान्यतः भगवान् की 'कृपा' भी तुम्हारी कठिनाइयों के अनुपात में ही होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १५७

जब हम अपनी चेतना से समस्त पराजयवाद को निकाल फेंकेंगे तब हम सिद्धि की दिशा में एक बहुत बड़ी छलाँग लगायेंगे।

'भागवत कृपा' में अपनी श्रद्धा को पूर्ण बना कर ही हम अवचेतना के पराजयवाद पर विजय पा सकेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४७८

भगवान् के साथ सचेतन सायुज्य का एक क्षण सारे प्रतिरोध को छिन्न-भिन्न कर सकता है, चाहे वह कितना ही प्रबल क्यों न हो। *श्रीमाँ*

कृपा के द्वारा रोग का उपचार

'भागवत कृपा' कार्य करने के लिए हमेशा मौजूद है लेकिन तुम्हें उसे कार्य करने देना चाहिये, उसकी क्रिया का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये। एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रद्धा। जब तुम्हें लगे कि आक्रमण हो रहा है तो सहायता के लिए श्रीअरविन्द को और मुझे पुकारो। अगर तुम्हारी पुकार सच्ची है (यानी, अगर तुम सचमुच स्वस्थ होना चाहते हो) तो पुकार को उत्तर मिलेगा और 'भागवत कृपा' तुम्हें स्वस्थ बना देगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९५

जब कोई किसी बीमारी के चंगुल में फँस जाये तो उसे माताजी से किस तरह प्रार्थना करनी चाहिये?

हे माँ! मुझे रोगमुक्त करो!

*

... ऐसा "चमत्कार" केवल भागवत कृपा में अचल श्रद्धा और भागवत उत्सर्ग में पूर्ण निष्कपटता के परिणामस्वरूप ही हो सकता है। उसमें यह बात न थी, वह भय, कामनाओं, माँगों से भरपूर थी और अपनी बाहरी सत्ता और जिसे वह अपनी आवश्यकताएँ कहती थी उस पर भयंकर रूप से एकाग्र थी। यह सच्चे उत्सर्ग से एकदम उलटी चीज़ है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १६८-६९

व्यक्तियों में समस्या का सीधा सामना न करने की आदत भी होती है जो उड़ान में अनूदित हो जाती है। जब पीड़ा आये तो उड़ो, उड़ो। समस्या को अपने अन्दर सोखने की जगह, उसे कस कर जकड़ने की बजाय, यानी अन्दर से हिले-डुले बिना, झुके बिना, हाँ, सबसे बढ़ कर, जब तुम अन्दर यह अनुभव करो, "मैं इसे और नहीं सह सकता" तो कभी मत झुको। अपने सिर को यथासम्भव शान्त रखो, उस गति का अनुसरण न करो, स्पन्दन की आज्ञा न मानो।

इसी की आवश्यकता होती है, बस इतने की ही : भागवत 'कृपा' में

श्रद्धा, भागवत 'कृपा' का अन्तर्दर्शन, या फिर, पुकार की तीव्रता, या इससे भी अधिक अच्छा है, प्रत्युत्तर, प्रत्युत्तर, खुलती हुई, टूटती हुई गाँठ, भागवत कृपा के इस अद्‌भुत प्रेम को प्रत्युत्तर।...

सबसे भयंकर चीज़ तब होती है जब तुम्हारे अन्दर बल नहीं होता, साहस नहीं होता, ऐसी चीज़ नहीं होती जो अदम्य हो। कितनी ही बार लोग मुझसे आकर कहते हैं : "मैं मरना चाहता हूँ, मैं भाग जाना चाहता हूँ, मैं मरना चाहता हूँ।" और उन्हें उत्तर मिलता है : "हाँ, तो, फिर अपने प्रति मरो! तुमसे अपने अहं को ज़िन्दा रखने के लिए किसी ने नहीं कहा! चूँकि तुम मरना चाहते हो तो अपने प्रति मरो! वह साहस जुटाओ, अपने अहं के प्रति मरने का सच्चा साहस।"

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ४१३-१४

जब शारीरिक अव्यवस्था आये तो तुम्हें डरना नहीं चाहिये, तुम्हें उससे निकल भागना नहीं चाहिये, तुम्हें उसका सामना साहस, शान्ति, भरोसे और इस निश्चिति के साथ करना चाहिये कि बीमारी एक **मिथ्यात्व** है और अगर तुम पूरे भरोसे के साथ, पूरी तरह, पूर्ण अचञ्चलता के साथ भागवत कृपा की ओर मुड़ो तो वह कृपा इन कोषाणुओं में उसी तरह पैठ जायेगी जिस तरह वह सत्ता की गहराइयों में पैठती है, और स्वयं कोषाणु शाश्वत सत्य और आनन्द के भागीदार होंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १५५

... जैसे ही तुम शारीरिक असन्तुलन की लहर का, अस्वस्थता के आने का अनुभव करो, तो उस समय उचित भाव में एकाग्र होने का मतलब होगा, आन्तरिक शान्ति में एकाग्रता, भागवत 'कृपा' पर श्रद्धा और भौतिक सन्तुलन एवं अच्छे स्वास्थ्य के लिए संकल्प। यह उचित भाव है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३८४

सच्ची बीमारी भय है। भय को दूर फेंक दो तो बीमारी चली जायेगी। मेरी सहायता तुम्हारे साथ है।

आशीर्वाद *श्रीमाँ*

विपत्ति, युद्ध और भविष्य

यह तमस् ही है—बुरी भावना की बात तो छोड़ो—हाँ, तमस् ही विपत्ति को **उत्पन्न** करता है। यह नहीं कि विपत्ति को बुलाने की इच्छा की गयी थी, यह भी नहीं कि इसे पहले से देख लिया गया था, बल्कि यह प्रतिरोध से **उत्पन्न** हुई।

और तब इसके साथ भागवत कृपा के कार्य को जोड़ दिया जाता है जो आकर, जहाँ कहीं सम्भव हो, वहाँ, दूसरे शब्दों में—जहाँ कहीं वह स्वीकार कर लिया जाता है—परिणाम को कम कर देता है। यही इस बात की व्याख्या करता है कि पार्थिव एवं मानव तत्त्व की अभीप्सा, श्रद्धा और पूर्ण विश्वास में व्यवस्था की शक्ति होती है, क्योंकि ये भागवत कृपा को आने एवं अन्ध प्रतिरोध के परिणामों को सुधारने की अनुमति देते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २७२-७३

आपने कहा है: "ये (युद्ध) एक ऐसे भूतकाल का नाश करने में उपयोगी हो सकते हैं जो अपना समय पूरा होने पर भी विलीन होकर अपना स्थान नयी वस्तुओं को देने से इन्कार करता है।" अब जब कि अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित हो चुका है, क्या जगत् की वर्तमान अवस्था को बदलने के लिए युद्ध की आवश्यकता पड़ेगी?

सब कुछ राष्ट्रों की ग्रहणशीलता पर निर्भर होगा। यदि वे व्यापक रूप से तथा शीघ्र ही नयी शक्तियों के प्रभाव के प्रति अपने-आपको खोल दें और काफ़ी जल्दी अपनी धारणाओं तथा अपने कार्यों को बदल दें तो युद्ध टल सकता है। किन्तु अभी तो यह हर समय संकट के रूप में ऊपर मँडराता रहता है और प्रत्येक भूल, चेतना की प्रत्येक कालिमा इस संकट को बढ़ा रही है।

फिर भी, अन्तिम विश्लेषण में, प्रत्येक वस्तु वस्तुतः भागवत कृपा पर ही निर्भर करती है और हमें भविष्य की ओर विश्वास के साथ और शान्तिपूर्वक देखना चाहिये, साथ ही जितनी तेज़ी से हो सके प्रगति करते रहना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ५९-६०

'कर्म' और 'कृपा'

इस तरह की भवितव्यता जिसका हम अपने जीवन पर कभी-कभी भारी दबाव अनुभव करते हैं, जिसे भारत में 'कर्म' कहा जाता है, पूर्व जीवनों का परिणाम है; सचमुच, यह ऐसी चीज़ है जिसे निःशेष कर देना चाहिये, यह ऐसी चीज़ है जो मनुष्य की चेतना पर भार बन जाती है।...

लेकिन, चूँकि यह 'कर्म' है, इसलिए तुम्हें अपने-आप भी कुछ करना होगा। कर्म अहं की रचना है; अहं को कुछ करना होगा, उसके लिए सब कुछ नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि 'कर्म' अहं की क्रियाओं का परिणाम है, और केवल तभी जब अहं अपनी गद्दी छोड़ दे, 'कर्म' विलीन होता है।...

साधारणतः जब किसी 'कर्म' पर विजय पाने और भागवत कृपा द्वारा उसके विलीन होने का समय आ जाता है तो उस 'कर्म' के कारण के यथार्थ तथ्यों की अनुभूति, ज्ञान या उसका चित्र भी सामने आ जाता है, और तब उस क्षण से तुम सफ़ाई शुरू कर सकते हो।...

एक दिन, एक ऐसा क्षण आता है जब चीज़ करनी होती है, जब तुम्हें वह सच्ची आन्तरिक क्रिया करनी पड़ती है जो मुक्त करती है। सच बात तो यह है कि इस समय पृथ्वी पर एक ऐसा सुअवसर है जो हज़ारों वर्षों बाद ही आता है, आवश्यक शक्ति के साथ सचेतन सहायता। एक समय था जब ऐसा माना जाता था कि 'कर्म' के परिणामों को मिटाने का बल किसी चीज़ में नहीं है, और यह कि केवल शुद्धीकरण के ढेर-सारे अनुष्ठानों द्वारा उसे एकदम-से समाप्त करके ही परिणामों को रूपान्तरित, पूरी तरह से समाप्त किया और मिटाया जा सकता है। लेकिन अतिमानसिक शक्ति द्वारा, मुक्ति की प्रक्रिया के सभी सोपानों से गुज़रने की आवश्यकता के बिना इसे किया जा सकता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ४१२, ४१४-१५

वहाँ, ऊपर निर्बाध स्वतन्त्रता का क्षेत्र है...। कौन कहता है कि एक पर्याप्त सच्ची अभीप्सा, एक पर्याप्त तीव्र प्रार्थना, उन्मीलन के मार्ग को बदलने में सक्षम नहीं है?

इसका अर्थ है कि सब कुछ सम्भव है।

तो, तुम्हारे अन्दर काफ़ी अभीप्सा होनी चाहिये और प्रार्थना काफ़ी तीव्र होनी चाहिये। परन्तु यह मानव प्रकृति को सौंपा गया है। यह भागवत कृपा के अद्‌भुत उपहारों में से एक है जो केवल मानव प्रकृति को मिले हैं, लेकिन, मनुष्य उसका उपयोग करना नहीं जानता।

सारी बात यहाँ पहुँचती है कि क्षैतिज दिशा में अधिक-से-अधिक दृढ़ नियति के होते हुए भी, यदि व्यक्ति इन क्षैतिज लकीरों को पार करके चेतना के उच्चतम 'बिन्दु' तक पहुँच सके तो वह उन चीज़ों को बदल सकता है जो बाहरी रूप में पूरी तरह नियत मालूम होती थीं।...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ९६

आपने यहाँ कहा है कि हम "कर्म की बेड़ी से बँधे हैं", पर कभी-कभी जब 'भागवत कृपा' कार्य करती है तो यह उलटा...।

बिलकुल, 'भागवत कृपा' कर्म को एकदम उलट देती है। यूँ समझो वह उसे धूप में रखे मक्खन की तरह पिघला देती है।...

... अगर तुम्हारे अन्दर काफ़ी सच्ची अभीप्सा है या काफ़ी तीव्र प्रार्थना है तो तुम अपने अन्दर किसी 'ऐसी चीज़' को उतार कर ला सकते हो जो सब कुछ बदल सकती है, सब कुछ—सचमुच वह सब कुछ बदल सकती है। एक उदाहरण दिया जा सकता है जो बहुत ही सीमित और बहुत छोटा है पर वह तुम्हें यह चीज़ अच्छी तरह समझा सकता है : एक पत्थर बिलकुल यान्त्रिक ढंग से गिरता है; मान लो, एक खपरा गिरता है, अगर वह ढीला हो जाये तो गिर ही पड़ेगा, गिरेगा न? लेकिन अगर, उदाहरण के लिए, उधर से गुज़रते हुए किसी आदमी से प्राणिक या मानसिक नियति आ जाये, वह आदमी यह न चाहे कि पत्थर गिरे और वह अपना हाथ आगे कर दे तो वह ज़मीन पर न गिर कर उस आदमी के हाथ पर गिरेगा। तो इस आदमी ने पत्थर या खपरे की नियति बदल दी। यहाँ एक और नियति आ गयी और किसी के सिर पर गिरने की जगह पत्थर हाथ पर गिरता है और किसी की हत्या नहीं करता। यह एक और लोक से हस्तक्षेप है, एक सचेतन संकल्प का हस्तक्षेप है जो न्यूनाधिक अचेतन यान्त्रिकता में

प्रवेश करता है।...

जैसा कि मैंने अभी कहा, काफ़ी सच्ची अभीप्सा या काफ़ी तीव्र प्रार्थना ही उसकी चाबी है। मैंने "या" कहा तो है पर मुझे नहीं लगता कि यहाँ "या" है।...

दोनों की ज़रूरत होती है। अपने कर्म को बदलने के लिए बहुत ज़्यादा नम्रता और बहुत प्रबल संकल्प होना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ९९, १०१

जब तक तुम दोषों को दोहराते रहते हो तब तक कुछ भी मिटाया नहीं जा सकता, क्योंकि प्रत्येक क्षण तुम उसे नया कर देते हो। जब कोई व्यक्ति ग़लती करता है, चाहे वह गम्भीर हो या मामूली, उसका परिणाम उसके जीवन में अवश्य होता है, यह एक ऐसा 'कर्म' है जिसका फल उसे भोगना ही पड़ता है, परन्तु 'भागवत कृपा', यदि तुम 'उसे' पुकारो तो उसकी काट कर सकती है; पर इसके लिए यह आवश्यक है कि त्रुटि को दोहराया न जाये। यह मत सोचो कि तुम वह-की-वही मूर्खताएँ अनिश्चित काल तक करते रहोगे और 'कृपा' उनके परिणामों को अनिश्चित काल तक रद्द करती रहेगी। ऐसा नहीं होता। अतीत को पूरी तरह साफ़ किया जा सकता और पोंछा जा सकता है, इतना तक कि उसका भविष्य पर कोई प्रभाव तक न रहे; पर शर्त यही है कि उसे तुम स्थायी वर्तमान न बना लो; यह आवश्यक है कि तुम स्वयं अपने अन्दर के ग़लत स्पन्दनों को रोको, उन्हीं स्पन्दनों को अनिश्चित काल तक फिर-फिर पैदा न करते रहो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ६३-६४

परम प्रभु के लिए पाप का अस्तित्व ही नहीं है—सभी दोष सच्ची अभीप्सा और रूपान्तर द्वारा मिटाये जा सकते हैं।

तुम जिस चीज़ का अनुभव करते हो वह तुम्हारी आत्मा की अभीप्सा है जो भगवान् को जानना और उनमें जीना चाहती है।

धैर्य धरो, ज़्यादा-से-ज़्यादा निष्कपट बनो और तुम्हारी विजय होगी।

श्रीमाँ

अन्धी और पीड़ा झेलती
मानवजाति की सहायता करने,
जो नेत्र देख नहीं सकते
उन्हें 'प्रकाश' के प्रति उद्घाटित करने,
दुःख से सन्तप्त हृदयों में
परमानन्द उतारने,
धरती और स्वर्ग के बीच
अपने जीवन को सेतु बनाने,
हे माँ! तुम इस संघर्षशील जगत् में
हुई अवतरित...

श्रीअरविन्द

वैश्व न्याय तथा अवतार का कार्य

'भागवत कृपा' के सामने कौन योग्य है और कौन अयोग्य?

सभी तो उसी एक दिव्य 'माँ' के बालक हैं।

'उनका' प्रेम उन सब पर समान रूप से फैला हुआ है।

लेकिन 'वे' हर एक को उसकी प्रकृति और ग्रहणशीलता के अनुसार देती हैं।

*

'भागवत कृपा' सबके लिए समान रूप से है, लेकिन हर एक उसे अपनी सच्चाई के अनुसार पाता है। वह बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, सच्ची अभीप्सा और उद्घाटन पर निर्भर होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९२, ९३

न्याय 'वैश्व प्रकृति' की गतिविधियों का कठोर, युक्तियुक्त नियतिवाद है। रोग इसी नियतिवाद का भौतिक शरीर में विनियोग है। चिकित्सक का मन इस अपरिहार्य 'न्याय' की नींव पर खड़ा होकर ऐसी परिस्थितियाँ लाने की कोशिश करता है जिन्हें युक्तियुक्त रूप से अच्छे स्वास्थ्य की ओर ले जाना चाहिये। नैतिक चेतना यही चीज़ सामाजिक शरीर में और *तपस्या* आध्यात्मिक क्षेत्र में कार्यान्वित करती है।

केवल 'भागवत कृपा' में ही वह शक्ति है जो 'वैश्व न्याय' के मार्ग में हस्तक्षेप कर सकती है और उसे बदल सकती है। अवतार का महान् कार्य है, 'भागवत कृपा' को धरती पर प्रकट करना। अवतार के शिष्य होने का अर्थ है, 'भागवत कृपा' का यन्त्र बनना। माता तादात्म्य द्वारा वैश्व न्यायतन्त्र के पूर्ण ज्ञान के साथ, तादात्म्य द्वारा 'भागवत कृपा' की महान् वितरक हैं।

और उनकी मध्यस्थता द्वारा भगवान् के प्रति सच्ची और विश्वासपूर्ण अभीप्सा की हर गति, उत्तरस्वरूप 'भागवत कृपा' के हस्तक्षेप को नीचे उतार लाती है।

हे प्रभु! कौन है जो तेरे सामने खड़ा होकर पूरी सच्चाई के साथ कह सके कि उसने कभी कोई भूल नहीं की। दिन में कितनी बार हम तेरे 'कार्य' के विरुद्ध अपराध करते हैं और हमेशा तेरी कृपा उन्हें मिटा देने

के लिए आ जाती है।

'तेरी कृपा' के हस्तक्षेप के बिना हम बहुधा तेरे 'वैश्व न्याय के विधान' के अपरिहार्य खड्ग के नीचे आते।

यहाँ प्रत्येक व्यक्ति समाधान के लिए किसी-न-किसी असम्भवता का प्रतिनिधि है लेकिन 'तेरी भागवत कृपा' के लिए सब कुछ सम्भव है। 'तेरा कार्य' सम्पन्न होगा समग्रतया और ब्योरे के साथ इन सारी असम्भवताओं को दिव्य उपलब्धियों में रूपान्तरित करने से।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९०-९१

विश्व और उसके नियमों को बनाये रखना वैश्व 'परम शक्ति' का कार्य है। सृष्टि से परे के परात्पर से महानतर रूपान्तरण अवतरित होता है और यही वह परात्पर 'कृपा' है जिसने श्रीमाँ के रूप में यहाँ शरीर धारण किया है ताकि उस 'परम कृपा' की क्रिया को सम्पन्न किया जा सके।

*

अपने वैश्व कार्यान्वयन में श्रीमाँ वस्तुओं के नियम के अनुसार कार्य करती हैं—अपने भौतिक रूप में वे 'परम कृपा' का एक सुअवसर बन कर अवतरित होती हैं, यानी भौतिक आकार ग्रहण कर लेती हैं।

*

व्यक्ति अपने चैत्य को जितना अधिक विकसित करता है, उतना ही अधिक 'परम कृपा' के लिए क्रिया करना सम्भव होता है।

SABCL खण्ड २५, पृ. ५०, ३३२

क्या श्रीमाँ की कृपा व्यापक होती है?

दोनों—व्यापक के साथ-साथ विशेष भी।

जिसे वे व्यापक रूप से प्रदान करती हैं उसे ग्रहण कैसे किया जाये?

तुम्हें बस अपने-आपको खुला रखना होगा, तब जिस किसी चीज़ की तुम्हें आवश्यकता होगी, जिस किसी चीज़ को तुम ग्रहण कर पाओगे, वह उसी समय तुम्हें प्राप्त हो जायेगी।

SABCL खण्ड २५, पृ. १२५

समस्त लालित्य और महिमा एवं सम्पूर्ण दिव्यता
एक अकेले रूप में यहाँ एकत्रित थी।

'सावित्री', पृ. ६८० **श्रीअरविन्द**

कृपा की धारणा

प्रत्येक मन परम दिव्य सत्य को पाने का अपना निजी पथ ग्रहण कर सकता है और वहाँ प्रत्येक के लिए एक प्रवेश-द्वार है तथा वहाँ तक जाने की यात्रा के लिए हज़ारों मार्ग हैं। भगवत्कृपा में विश्वास करने की अथवा अपनी उच्चतम आत्मा से भिन्न किसी परम देव को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं—ऐसे योग-मार्ग भी हैं जो इन चीज़ों को नहीं स्वीकार करते।... क्योंकि जहाँ तक इस "कृपाशक्ति" का प्रश्न है, हम इसका वर्णन इसी ढंग से करते हैं, क्योंकि हम अनन्त आत्मा या स्वयम्भू सत्ता के अन्दर एक ऐसी 'उपस्थिति', एक ऐसी 'सत्ता', एक ऐसी 'चेतना' का अनुभव करते हैं जो निर्णय करती है,—यही वह सत्ता है जिसे हम भगवान् कह कर पुकारते हैं—यह कोई पृथक् पुरुष नहीं है, बल्कि वह एकमेव पुरुष है जिसकी हमारी व्यक्तिगत आत्मा एक अंश या एक पात्र है। पर सबके लिए इसी रूप में इसे मानना आवश्यक नहीं है। मान लें कि यह केवल सबकी निर्वैयक्तिक आत्मा है, फिर भी इस आत्मा और इसके साक्षात्कार के विषय में उपनिषद् कहते हैं : "यह ज्ञान तर्क-बुद्धि द्वारा या तपस्या द्वारा या अत्यधिक विद्वत्ता द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि जिन लोगों को यह आत्मा चुनती है, उन लोगों के सामने वह अपने शरीर को प्रकट करती है।" हाँ, यह वही चीज़ है जिसे हम भागवत कृपा के नाम से पुकारते हैं,—यह ऊपर से या अन्दर से होने वाली एक क्रिया है जो मानसिक कारणों से स्वतन्त्र है और जो स्वयं अपनी गति का निर्णय करती है। हम इसे भागवत कृपा कह सकते हैं; हम इसे अन्तरस्थ आत्मा कह सकते हैं जो उपरितल पर मनोमय यन्त्र के सम्मुख अभिव्यक्त होने के लिए अपने समय और अपनी पद्धति का चुनाव करती है; हम इसे आन्तर पुरुष या आन्तर प्रकृति का आत्म-साक्षात्कार और आत्म-ज्ञान में प्रस्फुटन कह सकते हैं। जिस प्रकार हमारे अन्दर की कोई चीज़ इसकी ओर जाती है या यह स्वयं हमारे सामने प्रकट होती है उसी रूप में मन इसे देखता है। परन्तु वास्तव में यह आत्मा वही समान वस्तु तथा प्रकृति के अन्दर विद्यमान पुरुष की वही समान धारणा है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ६०८-०९

मैं रसेल के आक्षेपों का बहुत अच्छी तरह उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि ईसाइयों या यहूदियों की भगवान्-सम्बन्धी जो यह कल्पना है कि वह विश्व के बाहर का एक सर्वशक्तिमान् देवता है जिसने इस जगत् की "सृष्टि की है" और जो एक निरंकुश और स्वच्छन्द राजा की भाँति इस पर शासन करता है, यह कभी मेरी कल्पना नहीं रही है; यह तो मेरे दर्शन और अनुभव का अत्यधिक खण्डन करती है... परन्तु जब मैं भागवत संकल्प की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब किसी अन्य वस्तु से होता है—ऐसी वस्तु से जो यहाँ अज्ञान के एक क्रमवर्धमान जगत् में अवतरित हुई है, वस्तुओं के पृष्ठभाग में अवस्थित है, अपनी ज्योति से अन्धकार पर दबाव डाल रही है, वस्तुओं को अभी उस सर्वोत्तम स्थिति की ओर ले जा रही है जो अज्ञान के इस जगत् की परिस्थितियों में सम्भव है और अन्त में भगवान् की एक महत्तर शक्ति का अवतरण कराने जा रही है जो कोई ऐसी सर्वशक्तिमत्ता नहीं होगी जो संसार के—जैसा कि अभी यह है—विधान के द्वारा नियन्त्रित और सीमित हो, बल्कि पूर्णतः क्रियाशील होगी और इस कारण, ज्योति, शान्ति, सामञ्जस्य, हर्ष, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द का राज्य ले आयेगी, क्योंकि ये ही हैं भगवान् का स्वरूप। भागवत कृपाशक्ति प्रत्येक मूहूर्त कार्य करने के लिए तैयार रहती है, पर वह अभिव्यक्त होती है तब जब कोई अज्ञान के विधान से बाहर निकल कर ज्योति के विधान में वर्धित होता है, और इसका मतलब है कि वह किसी स्वेच्छाचारी मनमौजी की तरह कार्य नहीं करती, चाहे बहुधा उसका हस्तक्षेप जितना भी आश्चर्यजनक क्यों न प्रतीत हो, बल्कि उस वृद्धि में एक सहायक के रूप में तथा एक ऐसी ज्योति के रूप में कार्य करती है जो पथ दिखलाती और अन्त में मुक्त करती है।
SABCL खण्ड २२, पृ. १७४

यह आवश्यक नहीं कि कृपा ऐसे ढंग से कार्य करे जिसे मानव-मन समझ सके, वह साधारण तौर पर वैसा नहीं करती। वह अपने निजी "रहस्यपूर्ण" ढंग से कार्य करती है। सर्वप्रथम सामान्यतया वह परदे के पीछे से कार्य करती है, वस्तुओं को तैयार करती है, पर अपने को प्रकट नहीं करती। फिर बाद में वह प्रकट हो सकती है, पर साधक यह अच्छी तरह नहीं समझता कि क्या हो रहा है; अन्त में, जब वह समझने-योग्य हो

जाता है, वह अनुभव भी करता है और समझता भी है, अथवा कम-से-कम वैसा करना आरम्भ करता है।

मैं भागवत कृपा के विषय में कुछ कहना चाहूँगा—क्योंकि तुम ऐसा समझते प्रतीत होते हो कि उसे भागवत बुद्धि के जैसी कोई चीज़ होना चाहिये जो ऐसी पद्धतियों से कार्य करती है जो मानव-बुद्धि की पद्धतियों से बहुत भिन्न नहीं होतीं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। फिर यह वैश्व भागवत करुणा भी नहीं है जो उन सब पर निष्पक्ष भाव से कार्य करती है जो उसके पास आते हैं और जो सब प्रकार की प्रार्थनाओं को स्वीकार करती है। यह न तो पुण्यात्माओं का वरण करती है और न ही पापियों का परित्याग। भागवत कृपा अत्याचारी तारसस के सॉल (Saul of Tarsus) की सहायता करने आयी, दुश्चरित्र सन्त ऑगस्टीन के पास आयी, जन-निन्दित जगाई-मधाई के पास, बिल्वमंगल के पास आयी और ऐसे बहुत-से लोगों के पास आयी जिनके परिवर्तन ने मानवीय नैतिक बुद्धि की शुचितावाद को अच्छी तरह आघात पहुँचाया होगा; परन्तु वह पुण्यात्माओं के पास भी आयी—उसने उनको उनके धर्माभिमान से मुक्त किया और वह उन्हें इन चीज़ों से परे एक शुद्धतर चेतना में ले गयी। यह एक ऐसी शक्ति है जो किसी भी विधान से, यहाँ तक कि वैश्व विधान से भी श्रेष्ठ है—सभी आध्यात्मिक द्रष्टाओं ने 'विधान' और 'कृपा' के बीच विभेद किया है। फिर भी यह विवेकशून्य नहीं है—केवल इसका अपना निजी विवेक है जो वस्तुओं, व्यक्तियों और समुचित समयों तथा अनुकूल अवसरों को मन की या किसी दूसरी सामान्य शक्ति की दृष्टि से भिन्न दृष्टि से देखता है। व्यक्ति के अन्दर कृपा के आने की अवस्था की तैयारी बहुधा घने परदे के पीछे ऐसे उपायों से होती है जिन्हें मन द्वारा नहीं समझा जा सकता और जब कृपा के आने की अवस्था आती है तो फिर कृपा अपने-आप कार्य करती है। ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं : १–वैश्व विधान, कर्म का विधान या फिर और कुछ; २–भागवत करुणा जो विधान के जाल के अन्दर से जितने लोगों तक पहुँच पाती है उतने लोगों पर कार्य करती और उन्हें उनका सुअवसर प्रदान करती है; ३–भागवत कृपा जो अधिक हिसाब किये बिना कार्य करती है पर साथ ही दूसरों की अपेक्षा अधिक अदम्य रूप से

कार्य करती है। बस, प्रश्न यह है कि क्या जीवन की समस्त असंगतियों के पीछे कोई ऐसी चीज़ है जो पुकार का प्रत्युत्तर दे सके और चाहे जितनी कठिनाई के साथ क्यों न हो, अपने को तब तक खोले रख सके जब तक कि वह भागवत कृपा की ज्योति के लिए तैयार न हो जाये—और वह 'कोई चीज़' कोई मानसिक और प्राणिक क्रिया नहीं होनी चाहिये बल्कि आन्तरिक 'कोई चीज़' होनी चाहिये जो आन्तरिक आँख के द्वारा अच्छी तरह देखी जा सके। यदि वह चीज़ है और जब वह सम्मुख भाग में क्रियाशील होती है, तो 'करुणा' कार्य कर सकती है, यद्यपि 'कृपा' की पूर्ण क्रिया तब भी प्रतीक्षा कर सकती और सुनिश्चित निर्णय या परिवर्तन का अनुगमन कर सकती है; क्योंकि यह किसी भावी काल के लिए स्थगित हो सकती है, क्योंकि सत्ता का कोई अंश या तत्त्व अभी भी आड़े आता हो, कोई ऐसी चीज़ हो जो अभी ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत न हो।

परन्तु 'किसी भी चीज़ को', किसी भी विचार, किसी भी घटना को अपने और भगवान् के बीच बाधक क्यों बनने दिया जाये? जब तुम्हारे अन्दर पूरी अभीप्सा और प्रसन्नता है तो फिर भगवान् और अपनी अभीप्सा के सिवा किसी चीज़ का विचार नहीं होना चाहिये, किसी चीज़ को महत्त्व नहीं देना चाहिये। यदि कोई भगवान् को शीघ्रता से, अखण्ड रूप में, सम्पूर्ण रूप में पाना चाहता हो तो उसका मनोभाव यही होना चाहिये, वही चरम, सम्पूर्ण-तल्लीनकारी विषय होना चाहिये, उसे ही ऐसा एकमात्र विषय बना देना चाहिये जिसमें दूसरी किसी चीज़ को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

भला भगवान्-सम्बन्धी मानसिक विचारों का, उन्हें क्या होना चाहिये, उन्हें कैसे कार्य करना चाहिये, उन्हें कैसे कार्य नहीं करना चाहिये आदि सम्बन्धित विचारों का क्या मूल्य है—वे केवल रास्ते की बाधाएँ ही हो सकते हैं। एकमात्र भगवान् का ही महत्त्व है। जब तुम्हारी चेतना भगवान् का आलिंगन करेगी तब तुम जान सकते हो कि भगवान् क्या हैं, उससे पहले नहीं। कृष्ण कृष्ण हैं, हम इस बात की परवाह नहीं करते कि उन्होंने क्या किया या नहीं किया; एकमात्र उन्हें देखना, उनसे मिलना, उनकी ज्योति का, उपस्थिति का, प्रेम का और आनन्द का अनुभव करना ही महत्त्वपूर्ण बात है। आध्यात्मिक अभीप्सा के बारे में हमेशा यही होता है—यही आध्यात्मिक जीवन का मूल सिद्धान्त है। SABCL खण्ड २३, पृ. ६१०, ६०९-१०

अगर 'कृपा' सब कुछ कर सकती है, तो तपस्या क्यों?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि, इसके दो पक्ष हैं और उनमें से दोनों सत्य हैं। भगवत्कृपा के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता, परन्तु पूर्ण भगवत्कृपा के प्रकट होने के लिए साधक को स्वयं तैयारी करनी होगी। यदि सब कुछ भगवान् के हस्तक्षेप पर निर्भर है तो फिर मनुष्य केवल एक कठपुतली है और साधना का कोई उपयोग नहीं, और फिर न तो कोई शर्त है न वस्तुओं का कोई विधान—अतः कोई विश्व नहीं है, बस हैं केवल भगवान् जो अपनी मरज़ी के मुताबिक़ चीज़ों को लुढ़काते रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अन्तिम रूप से यह कहा जा सकता है कि सब कुछ भागवत वैश्व कार्य है, पर यह होता है व्यक्तियों के द्वारा, शक्तियों के द्वारा—प्रकृति माता की शर्तों के अधीन। विशेष हस्तक्षेप हो सकता है और होता भी है, लेकिन सब कुछ विशेष हस्तक्षेप ही नहीं हो सकता।

तपस्या के बारे में ब्रह्मानन्द जो कुछ कहते हैं वह, निस्सन्देह, सत्य है। यदि कोई श्रम और तपस्या करने को, मन और प्राण को संयमित करने को प्रस्तुत न हो तो वह बड़ी आध्यात्मिक उपलब्धियों की माँग नहीं कर सकता—क्योंकि मन और प्राण हमेशा ही अपने निजी राज्य को अधिक दिन बनाये रखने के लिए, अपनी रुचियों और अरुचियों को लादने के लिए तथा उस दिन को टालने के लिए कौशल और बहाने ढूँढ़ निकालेंगे जब कि उन्हें अन्तरात्मा और आत्मा का अनुगत यन्त्र और खुली प्रणाली बनना होगा। कभी-कभी भगवत्कृपा ऐसे परिणाम उत्पन्न कर सकती है जिसके हम अधिकारी न हों अथवा ऊपर से देखने में अधिकारी न हों, पर हम अपने स्वत्व और विशेषाधिकार के रूप में कृपा की माँग नहीं कर सकते—क्योंकि, तब तो वह कृपा ही नहीं होगी। जैसा कि तुमने देखा है, कोई यह माँग नहीं कर सकता कि उसे तो बस पुकारना है और उत्तर अवश्य आना चाहिये। इसके अलावा, मैंने हमेशा ही यह देखा है कि भगवत्कृपा के हस्तक्षेप करने से पहले वास्तव में एक लम्बी अदृश्य तैयारी होती रहती है, और फिर, उसके हस्तक्षेप करने के बाद भी, मनुष्य

को जो कुछ प्राप्त हुआ है उसे बनाये रखने और विकसित करने के लिए पर्याप्त मात्रा में कार्य करने की आवश्यकता होती है—जैसे कि अन्य सभी विषयों में मनुष्य को तब तक कार्य करना पड़ता है जब तक पूर्ण सिद्धि नहीं आ जाती। उसके बाद, निस्सन्देह, परिश्रम समाप्त हो जाता है और मनुष्य एक सुनिश्चित स्थिति में आ जाता है। अतः, कोई-न-कोई तपस्या तो करनी ही पड़ती है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ६११-६१२-१३

... लेकिन फिर तुम कह सकते हो, "हाँ, मैं प्रेम करूँ या न करूँ, मैं प्रेम चाहता ज़रूर हूँ, मैंने सदा ही चाहा है और अब मैं और भी अधिक चाहता हूँ, पर मैं पाता कुछ नहीं हूँ।" हाँ, लेकिन चाहना ही सब कुछ नहीं है। जैसा कि अब तुमने देखना आरम्भ किया है, कुछ शर्तें हैं जिन्हें पूरा करना होगा—हृदय की शुद्धि की तरह। तुम्हारी प्रस्थापना यह थी कि "जब एक बार मैं भगवान् को चाहता हूँ तो भगवान् को अवश्यमेव मेरे सामने प्रत्यक्ष होना चाहिये, मेरे पास आना चाहिये, कम-से-कम मुझे अपनी झाँकियाँ तो देनी ही चाहियें, यथार्थ, ठोस, वास्तविक अनुभूति देनी चाहिये न कि महज़ अस्पष्ट चीज़ें जिन्हें मैं न तो समझ सकूँ न उनका मूल्यांकन ही कर सकूँ। ईश्वर की करुणा-शक्ति -को, उसके प्रति जो मेरी पुकार है, उसका उत्तर अवश्य देना चाहिये, चाहे मैं अभी उसके योग्य होऊँ या नहीं—अन्यथा करुणा-शक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है।" ईश्वर की करुणा-शक्ति निस्सन्देह कुछ लोगों के लिए वैसा कर सकती है, पर भला यह "अवश्य" कहाँ से आ टपकता है? यदि ईश्वर को ऐसा अवश्य करना चाहिये, तो फिर वह अब ईश्वर की करुणा नहीं रह जाती, बल्कि वह ईश्वर का कर्तव्य या दायित्व या ठेका या सन्धि हो जाता है। भगवान् हृदय के अन्दर झाँकते हैं और उस क्षण वे उस परदे को हटा देते हैं जिसे वह वैसा करने का यथार्थ क्षण समझते हैं।

SABCL खण्ड २३, पृ. ७८७-८८

'भागवत कृपा': केवल 'भागवत कृपा' कार्य कर सकती है। वही मार्ग खोल सकती है, वही चमत्कार कर सकती है।

श्रीमाँ

सूर्यालोकित पथ पर व्यक्ति का प्रवेश

कठोर अर्थ में नियति, केवल बाहरी सत्ता पर, जब तक कि वह अज्ञान में रहती है, लागू होती है। जिसे हम नियति या भाग्य कहते हैं वह वास्तव में केवल सत्ता और प्रकृति की वर्तमान अवस्था का परिणाम है और भूतकाल में इन्होंने एक-दूसरे पर कार्य करके और वर्तमान प्रयासों तथा उनके भावी परिणामों का निश्चय करके जिन शक्तियों को सञ्चित किया है उनका परिणाम है। परन्तु जैसे ही मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करता है वैसे ही यह पुरानी पूर्वनिश्चित भवितव्यता बदलना शुरू कर देती है। अब एक नया तत्त्व प्रवेश करता है भागवत करुणा, कर्म की शक्ति से भिन्न उच्चतर भागवत शक्ति की सहायता, जो साधक को उसकी प्रकृति की वर्तमान सम्भावनाओं से परे उठा ले जा सकती है। उस समय साधक की भवितव्यता भगवान् द्वारा चुनी जाती है और उससे भविष्य सुनिश्चित हो जाता है। बस, एकमात्र सन्देह रह जाता है मार्ग के उलट-फेरों के तथा यात्रा में लगने वाले समय के विषय में। यहीं पर विरोधी शक्तियाँ पुरानी प्रकृति की दुर्बलताओं पर क्रिया करके प्रगति की तीव्रता को रोकने तथा सिद्धि को रोक रखने का प्रयास करती हैं। जो लोग गिर जाते हैं वे प्राणिक शक्तियों के आक्रमणों के कारण नहीं गिरते, बल्कि इस कारण गिरते हैं कि वे विरोधी शक्ति के पक्ष में आ जाते हैं और आध्यात्मिक सिद्धि के स्थान पर किसी प्राणिक महत्त्वाकांक्षा या कामना (महत्त्वाकांक्षा, मिथ्याभिमान, कामुकता आदि) को पसन्द करते हैं।

SABCL खण्ड २३, पृ. ४७५

... परम भगवत्कृपा केवल प्रकाश और सत्य की स्थितियों में ही कार्य करेगी, असत्य और अज्ञान द्वारा लादी हुई स्थितियों में नहीं। क्योंकि यदि वह असत्य की माँगों के सामने झुक जाये तो अपने उद्देश्य को ही विफल कर देगी।

प्रकाश और सत्य की स्थितियाँ ही एकमात्र वे स्थितियाँ हैं जिनमें परम शक्ति नीचे उतरेगी; और केवल वह उच्चतम अतिमानसिक शक्ति ही, ऊपर से उतर कर और नीचे से खुल कर भौतिक प्रकृति पर सफलतापूर्वक क़ाबू

पा सकती और इसकी कठिनाइयों को नष्ट कर सकती है, उसे जीत कर अपने हाथों में ले सकती है—होना चाहिये पूरा और सच्चा समर्पण, होना चाहिये भगवान् की शक्ति की ओर उद्घाटन—स्वयं को अनन्य रूप से खोलना। जो सत्य ऊपर से उतर रहा है उसे हर क्षण पूरी तरह अपनाना चाहिये, पार्थिव प्रकृति पर मन, प्राण और शरीर की जिन शक्तियों और रूपों का शासन चल रहा है उनके मिथ्यापन को हर क्षण पूरी तरह अस्वीकार करना चाहिये।...

यदि तुम अपनी भक्ति और अपने समर्पण के पीछे अपनी इच्छाओं को, अहंकार की माँगों को और प्राण के हठों को छिपाये रहो, यदि तुम इन चीज़ों को सच्ची अभीप्सा के स्थान पर ला बिठाओ या इन्हें सच्ची अभीप्सा के साथ मिला दो और इन्हें भगवती शक्ति पर लादना चाहो तो रूपान्तर करने के लिए तुम्हारा भगवत्कृपा को पुकारना बेकार है।

यदि एक ओर से या एक भाग में तुम अपने-आपको सत्य के लिए खोलो और दूसरी ओर के दरवाज़े लगातार विरोधी शक्तियों के लिए खोलते जाओ तो यह आशा व्यर्थ है कि भगवत्कृपा तुम्हारा साथ देगी। तुम्हें मन्दिर को साफ़ रखना होगा, यदि तुम उसमें सजीव रूप से भगवान् की प्रतिष्ठा करना चाहते हो।

यदि जब-जब शक्ति आये और अपने साथ सत्य को लाये तब-तब तुम उसकी ओर से पीठ फेर लो और फिर से, निकाले हुए असत्य को बुला लो, तो तुम भागवत कृपा को सहायता न देने का दोष नहीं दे सकते। इसमें दोष है तुम्हारे अपने संकल्प के मिथ्याचार का, तुम्हारे अपने समर्पण की कमियों का।

SABCL खण्ड २५, पृ. १-३

मेरे ख़याल से तुम्हारे अन्दर हमेशा इसी चीज़ की माँग बनी रहती है — भागवत कृपा कोई अतिमानसिक चमत्कार कर दे, यह ऐसी वस्तु है जो तपस्या की माँग पूरा करने के लिए, आत्म-पूर्णता पाने के लिए और कठिन परिश्रम से अधीर होकर हमेशा चमत्कार की माँग करती है।

— श्रीअरविन्द

प्रभु का आश्वासन

भागवत करुणा और शक्ति सब कुछ कर सकती हैं, पर साधक की पूर्ण अनुमति होने पर ही। वह पूर्ण अनुमति देना सीखना ही साधना का सम्पूर्ण अर्थ है। इसमें या तो मन के विचारों, प्राण की कामनाओं या भौतिक चेतना की तामसिकता के कारण समय लग सकता है, परन्तु इन चीज़ों को भागवत शक्ति की सहायता से या उसकी क्रिया का आवाहन करके दूर करना होगा और ये दूर हो सकती हैं।

किसी भी प्रकार के निरुत्साह को अपने ऊपर हावी न होने दो और भागवत कृपा पर किसी प्रकार का अविश्वास न रखो। जो भी कठिनाइयाँ तुम्हारे बाहर हैं, जो भी दुर्बलताएँ तुम्हारे अन्दर हैं, यदि तुम अपनी श्रद्धा और अपनी अभीप्सा पर दृढ़तापूर्वक डटे रहो तो गुह्य शक्ति तुम्हें उनमें से पार निकाल लायेगी और तुम्हें यहाँ वापस ले आयेगी। यदि तुम विरोधों और कठिनाइयों से दबे हुए हो, यदि तुम लड़खड़ाते हो, यदि तुम्हारे लिए मार्ग बन्द प्रतीत होता है फिर भी अपनी अभीप्सा को पकड़े रहो; यदि कुछ समय के लिए श्रद्धा मेघाच्छन्न हो गयी है तो मन और हृदय में हमारी ओर मुड़ो और बादल छँट जायेंगे।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५८३

सामर्थ्य, यदि वह आध्यात्मिक हो तो, आध्यात्मिक सिद्धि ले आने वाली एक शक्ति है; उससे भी महत्तर शक्ति है सच्चाई; सबसे महत्तम शक्ति है 'कृपा'। मैंने अनगिनत बार कहा है कि यदि मनुष्य सच्चा हो, बहुत विलम्ब होने और अत्यधिक कठिनाइयाँ होने पर भी, वह अन्त तक पहुँच जायेगा। मैंने बार-बार 'भागवत कृपा' की बात कही है। मैंने कितनी ही बार *गीता* की इस पंक्ति का उल्लेख किया है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः—मैं तुझे समस्त पाप और बुराई से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर।

SABCL खण्ड २३, पृ. ६११

परम प्रज्ञा

अन्तिम विश्लेषण में, 'भागवत कृपा' में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास ही 'परम प्रज्ञा' है।

*

उन सबके लिए कृपा और सहायता हमेशा मौजूद रहती है जो इनके लिए अभीप्सा करते हैं और जब इन्हें श्रद्धा और विश्वास के साथ ग्रहण किया जाये तो इनकी शक्ति असीम होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९७, ९५

भागवत कृपा पाने के लिए तुम्हारे अन्दर प्रबल अभीप्सा ही नहीं, सच्ची निष्कपट विनय और सम्पूर्ण विश्वास भी होना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २८४-८५

क्योंकि जब तुम यह केवल समझ ही नहीं, अनुभव भी कर लेते हो कि 'सर्वोच्च प्रभु' ही समस्त वस्तुओं के रचयिता हैं और जब तुम उनके सतत सम्पर्क में आ जाते हो, तो सब कुछ उनकी 'कृपा' का परिणाम हो जाता है और एक उज्ज्वल और शान्त आनन्द में परिणत हो जाता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २८४-८५

'भागवत कृपा', 'तेरी' भलाई अनन्त है।
हम 'तेरे' सम्मुख कृतज्ञता के साथ नमन करते हैं।

*

केवल 'भागवत कृपा' ही शान्ति, सुख, शक्ति, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द और प्रेम को उनके सार और सत्य के साथ प्रदान कर सकती है।

*

आओ, हम अपने-आपको निःशेष भाव से भगवान् के अर्पण कर दें, इस तरह हम 'भागवत कृपा' को अच्छी-से-अच्छी तरह पा सकेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९१, ९२, ९३

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

जून

१. हर एक के लिए एक नियम :
अच्छे-से-अच्छा प्रयास करो और परिणाम भगवान् के हाथ में छोड़ दो—भगवान् हर चीज़ को देख रहे हैं।

२. पूर्णयोग में साधना और बाहरी जीवन में कोई फ़र्क नहीं है। दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षण, सत्य को खोजना और उस पर आचरण करना चाहिये।

३. जो लोग मिथ्या विचार करते हैं, वे मिथ्यात्व और दुर्गति में ही रहेंगे। मिथ्या चिन्तन से निकल जाओ और तुम दुःख-दर्द से बच जाओगे।

४. तुम हमेशा यही पाओगे कि तुम्हारे अन्दर प्रकाश और अन्धकार साथ-साथ चलते हैं, तुम्हारे अन्दर एक क्षमता है और उस क्षमता का प्रतिवाद भी है। लेकिन अगर तुम अन्दर गहरा, घना अन्धकार पाओ तो विश्वास रखो कि तुम्हारे अन्दर कहीं बड़ा प्रकाश भी है। यह तुम्हारा काम है कि एक को प्राप्त करने के लिए दूसरे का उपयोग करो।

५. सब भावों के परे हमारी सत्ता की नीरव और शान्त गहराइयों में एक प्रकाश सदा प्रज्वलित रहता है, यह अन्तरात्मा की चेतना का प्रकाश है। इस प्रकाश को खोजो और इस पर एकाग्र होओ, यह तुम्हारे अन्दर ही है।

६. यदि एक ओर से या एक भाग में तुम अपने-आपको सत्य के लिए खोलते हो और दूसरी ओर के दरवाज़े लगातार विरोधी शक्तियों के लिए खोलते जाते हो तो यह आशा करना व्यर्थ है कि भागवत कृपा तुम्हारा साथ देगी। अगर तुम अपने अन्दर भगवान् की सजीव रूप से प्रतिष्ठा करना चाहते हो तो तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा।

७. सुरंग के अन्त में है प्रकाश। कृपा नित्य और निरन्तर विद्यमान है।

८. अगर कोई भगवान् को जल्दी प्राप्त करना चाहता है, पूरी तरह और समग्र भाव से पाना चाहता है, तो उनके पास पहुँचने की उसकी वृत्ति

भी ऐसी होनी चाहिये जो एकदम पूर्ण और सारी सत्ता को तन्मय कर देने वाली हो, उसी को एक ऐसा अनन्य लक्ष्यबिन्दु बना देने वाली हो जिसमें दूसरी कोई चीज़ दख़ल न दे।

९. हे प्रभु! तेरे सम्मुख खड़ा होकर कौन पूरी सच्चाई से कह सकता है: "मैंने कभी कोई ग़लती नहीं की?" दिन में कितनी ही बार हम तेरे कार्य के प्रति ग़लतियाँ करते हैं और हमेशा तेरी कृपा उन्हें मिटा देती है।

१०. हमें एकमात्र भागवत कृपा पर ही निर्भर रहना और सभी परिस्थितियों में उसकी सहायता के लिए पुकारना सीखना होगा, तब वह लगातार चमत्कार करके दिखलायेगी।

११. प्राण और शरीर का अस्तित्व स्वयं अपने लिए ही नहीं है बल्कि ये अपने से एक उच्चतर वस्तु के वाहन और यन्त्र हैं। इन्हें मनोमय पुरुष की श्रेष्ठतर आवश्यकताओं के अधीन बनाना है तथा सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम् के एक बृहत्तर विधान के द्वारा सुसंस्कृत तथा विशुद्ध बनाना है, उसके बाद ही मानव-पूर्णता की समग्रता में ये अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकते हैं।

१२. किसी को उसके धन के कारण ऊँचा न समझो, और न उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव का अपने ऊपर असर होने दो।

१३. सामान्य शरीर में रोग की तरह सामाजिक जीवन में भी दरिद्रता आवश्यक नहीं है। दोनों हालतों में जीवन की बुरी आदतें और हमारे सच्चे संगठन के बारे में अज्ञान उस अव्यवस्था के दूषित कारण हैं जिनसे बचा जा सकता है।

१४. मैं यह नहीं कहती कि योग करने के लिए जीवन का सब कुछ छोड़ कर, निश्चित रूप से एकान्त में या आश्रम में चले जाना चाहिये। वैसे, यह तो सच है ही कि सांसारिक परिस्थितियों में रहते हुए, संसार में योग करना अधिक कठिन है, लेकिन यह ज़्यादा पूर्ण भी है।

१५. भक्ति के साथ कार्य करने, क्रिया करने के साथ-साथ एक आन्तरिक उत्सर्ग भी आध्यात्मिक अनुशासन होता है। अन्तिम लक्ष्य है, भगवान् के साथ न केवल ध्यान में बल्कि सभी परिस्थितियों में और समस्त गतिशील जीवन में सायुज्य पाना।

१६. अगर तुम अपनी एकाग्रता और चेतना की सभी किरणों को एक बिन्दु पर ले आओ, और अगर तुम उस एकाग्रता को दृढ़ संकल्प-शक्ति के साथ बनाये रख सको, तो अधिक-से-अधिक जड़-भौतिक विकास से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विकास तक कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो उसका विरोध कर सके। लेकिन इस अनुशासन का सतत, यानी शान्तचित्त तरीक़े से अनुसरण करना चाहिये।

१७. एकाग्रचित्त होने के लिए उत्तम सहायता है श्रीमाँ की स्थिरता और शान्ति को अपने मन में ग्रहण करना। वह तुम्हारे ऊपर उपस्थित है—केवल मन और उसके केन्द्रों को उसके प्रति खोलना है।

१८. अगर तुम कठिनाइयों के बीच अपने स्वभाव पर प्रभुत्व पा सको, भागवत कृपा जैसा भी परिवेश दे उसमें तुम आन्तरिक रूप से शाश्वत उपस्थिति के साथ अकेले रहने का प्रयास करो तो तुम्हें जो सिद्धि प्राप्त होगी वह अधिक सच्ची, अधिक गहरी और अधिक स्थिर होगी।

१९. कठिनाइयों को जीतने के लिए उनसे भाग खड़ा होना कोई समाधान नहीं है।

२०. अपने तुच्छ, स्वार्थपूर्ण व्यक्तित्व से बाहर निकलो... अपने कर्तव्यों को निष्कपटता और ईमानदारी के साथ पूरा करो और भागवत कृपा पर स्थायी विश्वास रखते हुए हमेशा प्रफुल्ल और विश्वासपूर्ण बने रहो।

२१. जीवन के दुःखों को उसी तरह न लो जैसे वे दिखायी देते हैं—वास्तव में वे अधिक बड़ी उपलब्धियों के लिए मार्ग हैं।

२२. केवल कोशिश करना काफ़ी नहीं है, तुम्हें सफल होना चाहिये।

२३. अपने जीवन की चिन्ता पूरी सच्चाई के साथ भगवान् पर छोड़ दो और तुम्हारा हृदय शान्त रहेगा।

२४. अवतार का मुख्य उद्देश्य है, मनुष्यों को यह ठोस प्रमाण देना कि भगवान् धरती पर रह सकते हैं।

२५. कोई मानव-संकल्प अन्त में भागवत संकल्प के विरुद्ध नहीं टिक सकता। आओ, हम अपने-आपको ऐकान्तिक रूप से भगवान् के पक्ष में रखें। अन्ततोगत्वा विजय निश्चित है।

२६. एक दिन आयेगा जब इस संसार का सारा धन भगवद्-विरोधी शक्तियों की दासता से मुक्त होकर अपने-आपको सहज रूप में पूरी तरह से

धरती पर भागवत कार्य की सेवा में अर्पित कर देगा।

२७. अपने जीने के ढंग को सुधार करके ही तुम अच्छा स्वास्थ्य पाने की आशा कर सकते हो।

२८. पहले अपने-आपको पूरी तरह जानना सीखो और तब अपने ऊपर पूरी तरह अधिकार करना सीखो। तुम हर क्षण अभीप्सा करके ही यह कर पाओगे।

२९. हर क्षण तुम्हारे अन्दर प्रगति करने की सम्भावना रहती है। हम आज जिसे नहीं कर पाते, उसे कल कर सकेंगे।

३०. प्र.—"आन्तरिक तपस्या" का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?
उ.—आन्तरिक तपस्या? इसका अर्थ है, चरित्र के लिए, सत्ता की मनोवैज्ञानिक गतिविधि को बदलने के लिए, यथार्थतः कामनाओं को जीतने के लिए, आवेगों को जीतने के लिए, अहंकार पर विजय पाने के लिए, भयों से पिण्ड छुड़ाने के लिए की गयी तपस्या। यही आन्तरिक तपस्या है।

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

प.ले. का अर्थ है, पत्र-लेखक—सं.

'क' ने आपको 'ओडिसा बोर्डिंग' के निर्माण के बारे में लिखा है। 'ख' को यह काम करना है। 'ग' तथा 'घ' इसके तकनीकी पक्ष को सँभालेंगे और मैं भी इसमें भाग लूँगा। मैं क्या काम करूँगा इसका चिट्ठी में कोई उल्लेख नहीं है। आपने सहमति देकर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये हैं। 'क' का कहना है कि मुझसे यह आशा की जाती है कि जब कभी ज़रूरत हो, मैं आपके तथा अन्य विभागों के बीच सम्पर्क साधने का माध्यम बनूँ। काम दर्शन के बाद शुरू होगा।

दर्शन के बाद कैसे शुरू हो सकता है काम भला? उनके पास आवश्यक पैसा तक नहीं है, जो है वह बहुत *कम* है। और जितने की आवश्यकता है उसका तीन-चौथाई हुए बिना काम शुरू करना *असम्भव* है।

और फिर, नक़्शा भी तैयार नहीं है, आँकड़े भी नहीं बतलाये गये हैं, मेरे हिसाब से तो अभी कुछ भी तैयार नहीं है। इस हालत में कोई काम शुरू करना बेवक़ूफ़ी होगी। मुझे 'क' की चिट्ठी की याद है, लेकिन मैंने उपर्युक्त कारणों की वजह से उसे गम्भीरता से नहीं लिया था, और इस मामले में तुम्हारी उपस्थिति की बात पर कोई ध्यान ही नहीं दिया था क्योंकि सारी बात ही मुझे कुछ अनावश्यक-सी मालूम हुई थी। अतः, जब तक पूरा पैसा इकट्ठा नहीं कर लिया जाता, और आँकड़े तथा योजनाएँ बना कर मुझे नहीं दिखलाये जाते—कुछ नहीं होगा। आशीर्वाद।
८ फ़रवरी १९६३

> *प.ले. के दाहिने पैर में स्नायु सुन्न से पड़ जाते थे और वह लँगड़ाने लगता था। कभी-कभी ऐसा लगता था कि वह कहीं गिर न पड़े। उसने माताजी को सारा हाल बतलाते हुए लिखा कि 'आपको भौतिक रूप से सूचना दिये बिना कोई लाभ नहीं होता। दूसरों के मामले में चुपचाप अन्दर-ही-अन्दर आपसे कह देने से उनका कष्ट चला जाता है। क्या आप बतला सकेंगी कि ऐसा क्यों होता है?'*

यह हर एक की अपनी भौतिक ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है और स्वयं वह ग्रहणशीलता कम या अधिक प्रभुत्व जताने वाले मन पर निर्भर करती है।
३ मार्च १९६३

> *माताजी की पुस्तक 'सुन्दर कहानियाँ' में ऐसा मालूम होता है कि राम को वनवास देने की ज़िम्मेदारी पूरी तरह से कैकेयी की थी। तुलसीदासजी के अनुसार मन्थरा को अपना यन्त्र बना कर, 'गयी गिरा मति फेर' देवताओं के आदेश के अनुसार सरस्वती ने भगवान् का काम पूरा करने के लिए यह सब किया था। प.ले. उसका हिन्दी अनुवाद छापने से पहले माताजी से पूछता है कि आख़िर सच्ची बात*

क्या है और हिन्दी अनुवाद के लिए वह क्या करे।

मैंने जो लिखा है वह मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। ६० वर्ष पहले लिखी गयी एक अंग्रेज़ी पुस्तक का अनुवाद है। अतः तुम उसमें आवश्यक परिवर्तन कर सकते हो। आशीर्वाद।

६ मार्च १९६३

माताजी नहीं चाहती थीं कि उनका नाम पॉल रिशार के साथ किसी भी तरह जोड़ा जाये। 'क' का एक लेख छपा जिसमें उन्होंने लिखा था कि माताजी के पॉण्डिचेरी आगमन के समय उनके साथ रिशार भी चुनाव के सिलसिले में आये थे। यह लेख 'पुरोधा' के लिए भी भेजा गया। प.ले. माताजी से उनकी राय माँगता है।

मुझे इसके लिए खेद है, मुझे इसके बारे में कुछ बताया नहीं गया था। *इसे यहीं समाप्त कर दो*। यह आख़िरी बार हो कि मेरे अतीत के जीवन के बारे में सार्वजनिक रूप से कुछ कहा जाये। यह शरीर नहीं चाहता कि उसके बारे में कुछ कहा जाये। वह चुपचाप रहना चाहता है और चाहता है कि जहाँ तक हो सके उसकी *अवहेलना* की जाये।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

९ अप्रैल १९६३

माताजी,

अब एक गुस्ताख़ी-भरा प्रश्न। आपने एक बार काफ़ी कठोर भाषा में मुझे लिखा था कि आश्रम के काम-काज के छोटे-मोटे ब्योरों में आप नहीं पड़ना चाहतीं क्योंकि आपके पास बहुत ज़रूरी आन्तरिक कार्य हैं, लेकिन आजकल आप विस्तृत जानकारी माँग रही हैं। क्या इसका यह मतलब है कि आप उस लकीर को पार कर चुकी हैं जहाँ आपके ध्यान देने की बहुत ज़्यादा ज़रूरत थी और अब भविष्य आपके हाथ में आ गया है, या हम लोगों ने काफ़ी गड़बड़ की है जिसकी वजह से आपको इन बातों पर ध्यान देना पड़ रहा है। मैं आशा करता हूँ कि पहली बात है, क्या आप मुझे रहस्य बता सकेंगी?

इसमें कोई रहस्य की बात नहीं है। दूसरी बात ठीक है। चीज़ें इतनी अव्यवस्था में हैं कि मैं उन पर नज़र रखने के लिए बाधित हूँ।
१९ अप्रैल १९६३

माताजी की दयालुता का एक नमूना देखिये। आश्रम में जो नये लोग लिये जाते थे उनकी देख-भाल और उनकी व्यवस्था प.ले. किया करता था, यह तो पहले पत्रों में आ ही चुका है। यहाँ एक ऐसी ही नयी महिला के बारे में वह अपनी सूचना दे रहा है :

इसके लिए मैं केवल दो विकल्प देखता हूँ, या तो आप उसे भिक्षादान के रूप में रख लीजिये या मुझे ज़रा सख़्त होने की स्वीकृति दीजिये ताकि मैं उसे रेल के किराये के रुपये देकर विदा कर दूँ। डॉक्टर का कहना है कि उसके अवयवों पर क्षय का असर है।

शुरू से ही मैंने उसे भिक्षादान का याचक ही समझा है और उससे बहुत ही कम काम की आशा की। यह उस क़िस्म की स्त्री नहीं है जो उपयोगी होना चाहे। इसे 'लेक' (आश्रम का एक बग़ीचा) में रहने दो और कुछ ऐसा काम दे दो जिससे वह चुप रह सके। आशीर्वाद।
२० अप्रैल १९६३

उत्तर-प्रदेश से बनारसी-माँ नामक एक महिला आयी थीं जिनके हज़ारों शिष्य थे। उनका कहना था कि वे माताजी और श्रीअरविन्द के काम को आगे बढ़ा रही हैं, उन्होंने बहुत-सी भविष्यवाणियाँ कीं, जिनमें से एक यह थी कि श्रीअरविन्द १५ अगस्त १९६४ को फिर से मानव शरीर में आयेंगे। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होंने माताजी के हाथ के लिखे जाली पत्र भी प्रदर्शित किये थे। उनके बारे में माताजी को सूचना देते हुए प.ले. कहता है : उस प्रदेश के लगभग चार हज़ार आदमी उस गुट में शामिल हैं। बहुत-से हैं जिन्होंने घर-बार और काम-काज छोड़ कर उनके साथ रहना शुरू कर दिया है और यह सब आपके और श्रीअरविन्द के नाम के आधार पर। उस इलाक़े के आश्रम से सम्बन्ध रखने वाले लोग

जानना चाहते हैं कि इस मिथ्यात्व के बगूले के सामने उन्हें क्या वृत्ति अपनानी चाहिये। एक आदमी ख़ास इसी के लिए आया है। उसे क्या उत्तर दिया जाये?

यह सब एकदम और हमेशा के लिए बन्द होना चाहिये। यह *एकदम जालसाज़ी* है और जो लोग जालसाज़ी करते हैं उन्हें जेल भेज देना चाहिये।[१] या कम-से-कम उन्हें ऐसे मिथ्यात्व का प्रचार करने और भोले-भाले लोगों को छलने के लिए खुली छूट नहीं मिलनी चाहिये। उसकी पहली सभी भविष्यवाणियाँ असफल रही हैं और ये भी उसी तरह असफल रहेंगी, और जो उन पर विश्वास करते हैं केवल बुद्धू बनते हैं।

२७ अप्रैल १९६३

(और इसके साथ ही माताजी की अनुमति के साथ आश्रम के सचिव श्री नलिनीकान्त गुप्त के हस्ताक्षर के साथ यह विज्ञप्ति सम्बद्ध लोगों के पास भेजी गयी) :

"श्रीअरविन्दाश्रम के अधिकारियों का ध्यान इस बात की ओर खींचा गया है कि बनारसी-माँ नाम से ख्यात एक महिला उत्तर-प्रदेश में यह प्रचार करती फिर रही है कि वह माताजी और श्रीअरविन्द का प्रतिनिधित्व करती है, कि माताजी ने उसे कुछ पत्र लिखे हैं, उसका दावा है कि उसे बतलाया गया है कि श्रीअरविन्द सभी प्राचीन ऋषियों के साथ १५ अगस्त १९६४ को मानव शरीर में प्रकट होने वाले हैं। वह माताजी और श्रीअरविन्द के नाम से और भी बहुत-सी बातें कहती फिरती है।

मुझे यह घोषणा करने का अधिकार दिया गया है कि इस महिला का माताजी और श्रीअरविन्द के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, माताजी ने उसे कभी कोई पत्र नहीं लिखा और उसके सारे काम का माताजी और श्रीअरविन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

२७ अप्रैल १९६३ *सचिव, श्रीअरविन्दाश्रम*

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३२१-२६

[१] इस वाक्य के साथ माताजी ने लिख दिया "मज़ाक", यानी वे सचमुच जेल में जाने की बात नहीं कह रही थीं।

ध्यान तथा भोजन के विषय में

ध्यान सभी पहलुओं में सहायता देता है। मुझे ऐसा कोई पक्ष नहीं मालूम जिसमें ध्यान से सहायता न मिलती हो। सारा तान्त्रिक साहित्य, (वह नहीं जो आम बाज़ारों में मारा-मारा फिरता है, जो हमारे साहित्य का भद्दा विकृत रूप है) यहाँ तक कि वे महान् ग्रन्थ भी जिनमें गणित और आयुर्वेद आदि भरा है, ये सब कैसे लिखे गये? हमारे पूर्वज प्रयोगशालाओं में बैठ कर परीक्षण न किया करते थे। यह सारा ज्ञान उन्हें अन्तर्भास के द्वारा प्राप्त हुआ। वे किसी वस्तु को सामने रख कर उस पर ध्यान करते थे और उत्तर मिल जाता था। माँ ने लगभग आठ सौ फूलों के आध्यात्मिक अर्थ बतलाये हैं और उनमें से बहुत-से हमारे पूर्वजों के बताये हुए अर्थ से मेल खाते हैं; जिनके बारे में माँ अपरिचित थीं। उदाहरण के लिए, तुलसी है भक्ति और धतूरा है तपस्या। यह कैसे सम्भव हुआ? वास्तव में यह अन्तर्भास है। ज्ञान बदल नहीं सकता। एक विषय पर अलग-अलग लोगों के द्वारा पाया गया एक ही उत्तर होगा।

यदि तुम पूर्णतर जीवन जीना चाहते हो तो अपनी चेतना को ध्यान द्वारा शुरू करना बहुत ज़रूरी है, भगवान् के साथ ध्यान के द्वारा सम्पर्क जोड़ना, अपनी आन्तरिक क्षमताओं को ध्यान के द्वारा विकसित करना बहुत ज़रूरी है। जैसा कि मैंने कहा, मन व्यक्तिगत और वैश्व दोनों होता है। एक वैश्व मन होता है जो सबके लिए सामान्य होता है, लेकिन हम उससे परिचित नहीं होते और एक व्यष्टिगत मन होता है। उदाहरण के लिए, एक आदमी फ्रेंच जानता है, एक अंग्रेज़ी जानता है और एक और है जो हिन्दी जानता है और एक व्यक्ति दो भाषाएँ जानता है। जब कोई आदमी तुमसे बोलता है, यदि तुम उसकी भाषा नहीं जानते, फिर भी तुम समझ लेते हो कि वह क्या कह रहा है। तुम शब्दशः भले न समझ सको पर विचार पहुँच जाता है। ध्यान के कारण तुम्हारा जीवन ज़्यादा उपयोगी बन जाता है।

अन्त में हम सामूहिक ध्यान पर आते हैं। जैसा कि मैंने कहा था, सामूहिक ध्यान सामूहिक आत्मा को विकसित करने के लिए होता है जो

सामूहिक रूप में प्रकट हो सकती है। सामूहिक ध्यान में तुम भगवान् का आह्वान करते हो और अगर भगवान् सामूहिक जीवन के पथ-प्रदर्शक और अभिव्यक्ति के केन्द्रीय बिन्दु बन जायें तो ज़रा सोचो कि परिणाम क्या होगा? इसका उत्तर बहुत सरल है। अगर भगवान् केन्द्रीय बिन्दु बन जायें तो वे हर व्यक्ति को उसके उचित स्थान पर रख देंगे। और मनुष्य के लिए उससे अच्छा स्थान कौन-सा हो सकता है जो स्वयं भगवान् ने उसके लिए बनाया है और जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है, जो यहाँ पर उसके लिए एकमात्र जगह है और जिसे और कोई नहीं भर सकता? सामाजिक समस्याओं का तब तक कोई समाधान न होगा जब तक कि सारी सामाजिक व्यवस्था न बदल जाये और हर एक अपने उचित स्थान पर न आ जाये। कोई क़ानून इनका हल नहीं निकाल सकता। सामूहिक ध्यान में सामूहिक अभीप्सा होनी चाहिये। अगर एक व्यक्ति एक विषय में सोच रहा हो और दूसरा किसी और विषय में तो इससे सामूहिक ध्यान में कोई सहायता न मिलेगी। यदि तुम्हारे सामूहिक जीवन का कोई नेता है जो अपनी चेतना को भगवान् की ओर खोल सकता है और फिर समूह की चेतना को मार्ग दे सके तो स्वभावतः सामूहिक ध्यान सफल हो सकता है।

अगर तुम लोगों को कुछ पूछना है तो मैं उत्तर देने के लिए प्रस्तुत हूँ।

ठीक तरह मेरी समझ में यह नहीं आता कि सब कुछ कैसे भगवान् के अर्पित किया जाये?

... मैं तुम्हें अर्पण का सबसे सरल उपाय बतलाता हूँ ताकि तुम अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य कर सको। और भगवान् उसे स्वीकार करेंगे इस बात की श्रद्धा तुम्हारे अन्दर होनी चाहिये। वे अपने तरीक़े से उसे स्वीकार करेंगे क्योंकि वे तुमसे तुम्हारी क्षमता से अधिक करने की आशा नहीं रखते। चलो, हम एक सरल-सा उदाहरण लें।

मान लो कि तुम अपना भोजन भगवान् को अर्पित करना चाहते हो। तुम पहली चीज़ क्या करोगे? तुम जानते ही हो कि योग में बहुत अधिक निष्कपटता और सच्चाई की ज़रूरत है। तुम जो मरज़ी हो उसे चुन कर, जैसे-तैसे पका कर भगवान् की भेंट नहीं कर सकते। (मैं बहुत निचले स्तर की बात कर रहा हूँ, ऊपर के स्तर की नहीं) तो पहला क़दम क्या

है? तुम सच्चाई के साथ कहते हो, "तू बता तुझे आज क्या खाना है? तू न बतायेगा तो मेरा कसूर नहीं।" जब तुम उनके पास जा पहुँचते हो तो भगवान् तुम्हारा हाथ पकड़ लेते हैं और अपना अनुभव कराते हैं और तुम्हें राह दिखाते हैं। यह उन्हें निश्चय करना होगा कि तुम्हें बताएँ कि तुम्हारे लिए क्या ठीक है। तो पहली चीज़ है, चुपचाप उनसे प्रार्थना करो, "कृपया मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिये, बतलाइये, आज क्या पकाया जाये, आज हम आपको क्या भेंट दे सकते हैं?" स्वभावतः तुम्हारी वृत्ति यह होनी चाहिये कि तुम सचमुच उन्हीं के लिए पका रहे हो—फिर भले तुम्हारा नौकर ही क्यों न पका रहा हो। जब नौकर पका रहा हो तो एक समस्या रहती है, तुम हर समय उसका मार्गदर्शन नहीं कर सकते। इसलिए तुम्हें बहुत सावधान रहना चाहिये। एक बार माँ ने मुझसे कहा, "तुम्हें वह भोजन न करना चाहिये जो तुम करते हो क्योंकि उसे नौकर पकाते हैं; यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हें भोजन दिया करूँगी।" मैं कितना सौभाग्यशाली था, उस दिन से उन्होंने मुझे स्वयं भोजन देना शुरू कर दिया।

हमें ऐसे भोजन से बचना चाहिये जो जड़ता, आलस्य और भारीपन लाता है और हलकापन और ऊर्जा देने वाला भोजन खाना चाहिये।

हमें अपने-आप पकाना चाहिये या यह कोशिश करनी चाहिये कि खाना अच्छी-से-अच्छी स्थिति में पकाया जाये। मान लो, खाना पक गया, जब वह तुम्हारे सामने आये तो अपने अन्दर स्थित भागवत उपस्थिति का ध्यान करो—राम, कृष्ण, प्रकाश, ॐ, श्रीअरविन्द—किसी भी रूप में ध्यान करो—इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि भगवान् एक ही हैं। अपने तरीक़े से भागवत उपस्थिति का आह्वान करो। "आप इस भोजन में हैं, आप इस शरीर में हैं, आप मेरे चारों ओर हैं। मैं आपके लिए ही इस शरीर का पोषण कर रहा हूँ, मुझे अपनी उपस्थिति के प्रति जगाइये, इस शरीर का हर कोषाणु आपके प्रति सचेतन हो, यह भोजन इस शरीर में आपकी चेतना लाये।" और तुम अपने शरीर का अंग-अंग समर्पित करो।

कम-से-कम इतना तो हर एक कर ही सकता है, इससे ज़्यादा की बात तो हम अभी के लिए छोड़ सकते हैं वरना सारी बातचीत केवल सैद्धान्तिक रह जायेगी।

(क्रमशः)

—नवजातजी

वे मुझे पूरा संसार दे गये थे

प्रस्तुत है लेखक रॉबर्ट रूऑर्क की एक कहानी—

कुछ लोगों को यह बात शायद बहुत अटपटी लगे कि मैं अपने दादाजी की अन्त्येष्टि में शामिल होने की बजाय मछली पकड़ने चला गया था। लेकिन मेरे दादाजी को यह बात अटपटी कतई न लगती। उनकी मौत पर जो गहरा सूनापन मुझे महसूस हुआ था उसे भुलाने का और कोई तरीक़ा था ही नहीं। उस समय मैं पन्दह वर्ष का था और दादाजी के बिना इतने बड़े संसार में बहुत अकेला महसूस कर रहा था।

मेरे दादाजी की अरथी के साथ जाने वाले लोगों से शहर की सड़कें भरी हुई थीं। उस भीड़ में उनके सगे-सम्बन्धियों में से अगर कोई चेहरा नदारद था वह बस मेरा चेहरा था। मैं उन्हें अलविदा कह चुका था और वे मुझे अलविदा कह चुके थे। उनसे बिछुड़ने के एहसास को मैं लोगों की भीड़ में उलझाना नहीं चाहता था इसलिए मैं नदी की ओर चल दिया था।

"मार्च का महीना भी अजीब होता है!" दादाजी कहा करते थे, "और उसे बिताने का सबसे अच्छा तरीक़ा है, यादों में खो जाना।" सो मैं किश्ती में मछलियाँ पकड़ता हुआ यादों में खो गया।

"मैं तुम्हारे लिए ज़्यादा कुछ छोड़ कर नहीं जा रहा हूँ", उन्होंने अपनी मौत को निकट आते देख कर मुझसे कहा था—"मेरी इस बीमारी पर बहुत ज़्यादा ख़र्च हो गया। यह घर गिरवी रखना पड़ा है और बैंक से भी कर्ज़ लेना पड़ा है। इसलिए तुम्हारे लिए कुछ बन्दूकें, मछली पकड़ने के जाल और किश्ती के सिवा कुछ न बचेगा। या शायद एक याद बची रहे।"

अचानक सूरज निकल आया था और उस ऐश्वर्य के दर्शन कर मुझे लगा था कि मैं संसार-भर में सबसे अमीर लड़का हूँ। उनका यह कहना ग़लत था कि वे मेरे लिए ज़्यादा कुछ छोड़ कर नहीं जा रहे थे। मैंने उनके साथ पन्द्रह वर्ष बिताये थे और उन्होंने मुझे लगभग वह सब कुछ दिया जो वे जानते थे। उन्होंने मुझे जीवन में इस प्रकार प्रवेश कराया था जैसे बच्चे को चलना सिखाया जाता है।

मैं कभी उनकी सही उम्र का अन्दाज़ नहीं लगा पाया था। बचपन से ही मैं उनकी वही पुरानी टोपी और वही उलझी हुई मूछें देखता आया था।

उन्होंने मुझे हमेशा अपने बराबर का समझा था।

जब मैं छह साल का था, तो एक बार घर के लोगों से झगड़ कर मैंने घर छोड़ने का फ़ैसला कर डाला था।

"अपने साथ सभी ज़रूरी चीज़ें ले जा रहे हो न? दियासलाइयाँ, लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी? शिकार के लिए बन्दूक...?" दादाजी ने पूछा था।

मैंने कोई जवाब नहीं दिया था और जब मैं अपना झोला कन्धे पर डाल कर चल पड़ा, तो दादाजी बोल उठे थे—"बिना हाथ मिलाये ही चले जाओगे?" और उन्होंने अपना हाथ मेरी ओर बढ़ाया था।

मैं उनसे हाथ मिला कर बगीचे में बने अपने तम्बू की ओर चला गया। रात को वहाँ मुझे बेहद अकेलापन महसूस होने लगा था। मैं भूखा भी था। लेकिन वापस घर जाने को तैयार न था।

अचानक क़दमों की आहट सुनायी दी। फिर दादाजी की नरम आवाज़ आयी—"ठीक-ठाक तो हो न? मैं कोई मदद करूँ?"

"ठीक हूँ" मैंने सिसकी रोकते हुए कहा।

"वास्तव में मैं तुम्हारे माता-पिता और दादी की ओर से तुमसे समझौते की बातचीत करने आया हूँ। उनका कहना है कि शायद दोनों तरफ़ से ग़लती हुई है। वैसे हम तुम्हें समझौता करने के लिए मजबूर नहीं करेंगे। सही या ग़लत का फ़ैसला तुम्हें ख़ुद ही करना है। और हाँ, आज खाने में बहुत बढ़िया 'ऐप्पल पाई' बनी है।"

"ठीक है, मैं समझौते की बातचीत करने के लिए तैयार हूँ।" मैंने अपने ऊपर क़ाबू पाते हुए कहा था। हालाँकि उस समय मेरी इच्छा हो रही थी कि दौड़ कर तम्बू से निकलूँ और दादाजी के गले में बाँहें डाल कर उनसे लिपट जाऊँ और ख़ूब रोऊँ। तब मैं यह नहीं जान पाया था कि किस तरह मेरे दादाजी ने मेरे स्वाभिमान को तनिक भी ठेस नहीं लगने दी थी!

जब मैं आठ साल का हुआ तो उन्होंने मुझे एक बन्दूक लाकर दी और कहा था—"तुम्हारी माँ समझती हैं कि मैं मूर्ख हूँ जो तुम्हें इस उम्र में बन्दूक दे रहा हूँ। मैंने उनसे कहा है कि इसकी ज़िम्मेदारी मुझ पर रहेगी। इसलिए यह बात याद रखना कि तुम्हारे हाथों में एक ख़तरनाक हथियार है। यह तुम्हारी, मेरी या किसी कुत्ते की जान ले सकता है। इस बात को भूलना नहीं।" और दादाजी की उस बात को मैं आज तक भूला नहीं हूँ।

उन्होंने बदलते हुए मौसमों का परिचय मुझे कराया था। उनकी बदौलत सूँघने की मेरी शक्ति तेज़ हो गयी थी। ग्रीष्म की महक पतझड़ की महक से मुझे अलग महसूस होने लगी थी। ग्रीष्म किसी गाय की साँस की तरह दूधिया और अवसाद-भरा था। पतझड़ स्फूर्तिदायक था। वसन्त में जवानी की-सी महक थी और शिशिर में बुढ़ापे की-सी गन्ध—भट्ठी की आग और तम्बाकू की मिली-जुली महक।

उन्होंने मुझे पढ़ना सिखाया था—मानों वह भी शिकार की तरह एक खेल हो। उन्होंने मेरे सामने ज्ञान के खज़ाने इस तरह खोले कि मैं सारे समय किताबों में डूबा रहने लगा था। इस तरह ऊब से बचने का अमूल्य साधन मेरे हाथों में थमा दिया था।

एक दिन मैंने उनसे कहा था—"मैं चाहता हूँ कि एक दिन ख़ूब अमीर बनूँ।"

कुछ देर वे चुपचाप पाइप के कश खींचते हुए मेरी ओर देखते रहे। फिर उन्होंने पूछा, "किसी अमीर को जानते हो?"

"नहीं।"

"ग़लत बात। दो अमीरों को तुम ख़ूब अच्छी तरह जानते हो। तुम और मैं। हम दोनों उन सभी लोगों से कहीं ज़्यादा अमीर हैं जो अपने शानदार बजरों में बैठ कर यहाँ आते हैं। अमीरी इसमें नहीं है कि जो चीज़ तुम्हारे पास नहीं है उसे तुम ख़रीद सको। अमीरी इसमें है कि तुम जो कुछ करना चाहते हो, उसके लिए तुम्हारे पास समय हो। अमीरी इसमें है कि तुम्हारे पास खाने के लिए काफ़ी हो, तुम्हारे सिर पर छत हो, तुम्हारे पास मछली पकड़ने का साजो-सामान हो, किश्ती हो, बन्दूक हो, और कारतूस ख़रीदने के लिए कुछ पैसे हों।"

उस दिन, जब मैं दादाजी की अन्त्येष्टि के समय मछली पकड़ रहा था, तो उसी विरासत के बारे में सोच रहा था जो वे मेरे लिए छोड़ गये थे। वह विरासत थी—दो बन्दूकें, एक जाल, एक किश्ती और एक घर जो गिरवी रखा हुआ था। पर नहीं, उनकी विरासत इससे भी कहीं ज़्यादा विशाल थी।

अन्त में मैं किश्ती खेता हुआ किनारे पर आया और घर की ओर चल पड़ा था। तब तक अधिकतर लोग जा चुके थे और सिर्फ़ रिश्तेदार

और कुछ एक नज़दीकी दोस्त वहाँ बाक़ी रह गये थे। मेरी गैरहाज़िरी पर किसी का ध्यान नहीं गया था। तब मैंने मन-ही-मन पक्का फ़ैसला किया था कि एक दिन मैं लेखक बनूँगा और उन चीज़ों के बारे में लिखूँगा जो मुझे दादाजी ने सिखायी थीं। मगर इससे पहले ज़रूरी था कि मैं तालीम पूरी करूँ और पैसा कमाऊँ, ताकि गिरवी रखे दादाजी के उस पुराने घर को छुड़वा कर अपना बना सकूँ।

इसमें बहुत समय लगा। मुझे हज़ारों शब्द लिखने पड़े और वॉशिंग्टन, न्यूयॉर्क, पैरिस, स्पेन और अफ़्रीका में घूमना पड़ा, और अपने कुछ-एक बाल सफेद करने पड़े। लेकिन, आख़िरकार मेरे दादाजी का घर—गौरव-भरा और नये रंग-रोगन से चमकता—फिर से हमारे परिवार को मिल गया, जहाँ मैग्नोलिया के पेड़ों पर मैना ख़ुशी से गाती है।

अब मैं अपने दादाजी की विरासत को बहुत स्पष्ट रूप में देख पा रहा हूँ—वे मुझे पूरा संसार दे गये थे।

'पुरोधा', नवम्बर २०११ से —वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

भगवती माँ की कृपा

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने अधिक पूर्ण होंगे, भगवती माँ की कृपा और रक्षा भी तुम्हारे साथ उतनी ही अधिक रहेंगी। और जब भगवती माँ की कृपा और अभय-हस्त तुम पर है तो फिर कौन-सी चीज़ है जो तुम्हें स्पर्श कर सके या जिसका तुम्हें भय हो? कृपा का छोटा-सा कण भी तुम्हें सब कठिनाइयों, बाधाओं और संकटों के पार ले जायेगा; क्योंकि यह मार्ग माँ का है, इसलिए किसी भी संकट की परवाह किये बिना, किसी भी शत्रुता से प्रभावित हुए बिना — चाहे वह कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो, चाहे वह इस जगत् की हो या अन्य अदृश्य जगतों की — इसकी पूर्ण उपस्थिति से घिर कर तुम अपने मार्ग पर सुरक्षित होकर आगे बढ़ सकते हो। इसका कृपास्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। क्योंकि भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट, अवश्यम्भावी और अनिवार्य है।

SABCL खण्ड २५, पृ. १० श्रीअरविन्द

Date of Publication: **1st June 2021**
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70